March 2017
Volume I
Issue 7
E-ISSN : 2454-2717

gacc journal

Covering Researches in all fields of Humanities, Languages, Social Services, Commerce and Management

'A' Grade

THE OFFICIAL PUBLICATION OF SHRI ATAL BIHARI VAJPAYEE GOVERNMENT ARTS AND COMMERCE COLLEGE, INDORE

PATRON :

Dr. Nalini Joshi
In-charge Principal
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: nalinijoshirk@gmail.com

EDITOR IN CHIEF :

Dr. Roshan Benjamin Khan
Head, Department of English
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: roshanisuper@yahoo.co.in

EDITORIAL BOARD :

Dr. Anoop Vyas
Head, Department of Commerce
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: anoopvyas29@gmail.com

Dr. Ashwini Sharma
Professor, Department of Political Science
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: drsharmaashwini@gmail.com

Dr. Ashish Pathak
Professor, Department of Commerce
SABV GACC, Indore (M.P.)
email: ashishpathakgacc@gmail.com

MAILING ADDRESS :
Shri Atal Bihari Vajpayee Government Arts & Commerce College
A.B. Road, Near Bhanwarkuan Square, Indore (M.P.)
Postal Code: 452017
email: principalgaccindore@rediffmail.com
Website: www.gaccindore.org

gacc journal
March 2017, Volume-1, Number-7

TECHNICAL ASSISTANCE :
Mr. Bhupendra Verma
95847-00007
Bhupendra_verma01@yahoo.com

INDEX

1.	डॉ. आशा अग्रवाल	नयी कविता ; नयी दृष्टि	4-7
2.	Dr. Manisha Mathur	'Alcestis' on the Altar of Passion and Duty	8-11
3.	प्रो. कुम्भन खण्डेलवाल	उच्च शिक्षा में जीवन मूल्य (नैतिक मूल्य)	12-16
4.	Dr. Alka Tomar	Adit and Sarah : Symbols of alienation , Nostalgia and identity crisis in Bye Bye : Black-Bird	17-19
5.	डॉ. माधुरी शेरे	प्रथम हिन्दी समाचार पत्र - 'उदन्त मार्तण्ड'	20-25
6.	डॉ. सुधीर सक्सेना	भारत में शहरीकरण की समस्या का प्रभाव : एक अर्न्तवस्तु विश्लेषण	26-31
7.	Dr. Rajendra singh Waghela	Tribal Women Entrepreneurs and "MAKE IN INDIA"	32-38
8.	Dr. Roshan Benjamin Khan	Feminist Science Fictions : An Overview	39-45
9.	Dr. Renu Sinha	Can English Be Fixed?	46-49
10.	Dr. S. S. Thakur	Essence of Hinduism: The Liberation Mantra	50-55
11.	डॉ. संध्या गोयल	मानवाधिकार एवं महिलाओं के अधिकार भारतीय संविधान के परिपेक्ष्य में	56-59
12.	डॉ. प्रीति चौहान	निष्काम कर्म की अवधारणा तथा ओशो की विचारधारा	60-64
13.	श्रीमती अल्पना सिंह	इन्दौर संभाग के ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में लिंगानुपात का तुलनात्मक अध्ययन	65-67
14.	डॉ. सपना चक्रवर्ती	भारतीय संविधान में सामाजिक व आर्थिक न्याय	68-72

नयी कविता ; नयी दृष्टि

डॉ. आशा अग्रवाल
सहा. प्राध्यापक हिन्दी
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

शोध सारांश

इस प्रकार नयी कविता अपनी जमीन से जुड़कर बहने वाली ऐसी काव्यधारा है। जिसने तमाम विरोधों को सहते हुए युग चेतना की अभिव्यक्ति की है। नयी कविता की यात्रा साधारण मानव की यात्रा है। वह व्यक्ति को साथ लेकर चली है और जीवन से इस प्रकार सम्बद्ध है कि छोटी से छोटी घटना भी उसका प्रतिपाद्य बन गई है। इसने अभिव्यक्ति के नवीन क्षेत्रों का उद्‌घाटन किया है। उसकी नयी सोच के आधार पर मनुष्य को केवल मानवीय अस्मिता के प्ररिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जा सकता है। मानवेत्तर काव्य में बंद कर जीवन से दूर नहीं किया जा सकता है।

.....

नयी कविता नयी अनुभूति और अभिव्यक्ति की कविता है। जिसने साहित्य तथा जीवन को प्रांसगिक, सार्थक मानव मूल्य प्रदान किये हैं। युग की प्रकृति के अनुसार काव्य दृष्टि में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का प्रयास किया है तथा मानव मुक्ति के संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

नयी कविता विषय वस्तु एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से पुरानी परम्परा से हटकर है। विषयवस्तु की दृष्टि से जहाँ इसमें नवीनता, मुक्त यथार्थवाद, बौद्धिकता, क्षणवादी जीवन दर्शन एवं लघु मानव की प्रतिष्ठा की गई है, वहीं शिल्प की दृष्टि से नवीन उपमान, प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता एवं भाषा के नए प्रयोग दिखाई पड़ते हैं।

आओ हम अतीत को भूलें
और आज की अपनी रग–रग के अन्तर को छूलें।।

(मुद्राराक्षस)

मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्य धन गदहा

(अज्ञेय)

नयी कविता शुद्ध **मानवीय भूमि** पर फली–फूली है। उसमें ऐसे व्यक्ति के निर्माण की इच्छा नहीं है, जो अपरिचित है, बल्कि वह उस व्यक्ति को खोजना चाहती है, जो यहीं के मूल्य लेकर यही पर जी रहा है। नयी कविता का सम्बंध शुरू से ही जीवन की सामान्य सी दिखने दिखने वाली घटनाओं और स्थितियों से रहा है। नयी कविता चुपचाप मामूली आदमी की आम स्थिति का चित्रण करती है –

''बच्चे ने/पास पड़ी कंकड़ी उठाके/एक बूढ़े भिखमंगे पर फेंक दी/कंकड़ लगी हो न लगी हो/उस बूढ़े ने/गालियाँ दी/बच्चे को लोगों को भाग्य को, विधाता को।''

(बालकृष्णराव : अर्द्धशती)

नयी कविता का कवि भावनाओं के कैद से छूटकर बुद्धि के दूर्ग में बैठकर शब्दों का ताना–बाना बुनने में विश्वास रखता है। वह हृदय को झंकृत करने के स्थान पर उसकी बुद्धि को झकझोरना अधिक पसन्द करता है। यह बौद्धिकता हर जगह दृष्टव्य है –

''मेरी विशाल बुद्धि/सूर्य चन्द्र तारों के/तापवेग नाप रही मेरी अतर्क्य शक्ति/जलथल
समीर व्योम/विद्युत को चांप रही।''

(डॉ. देवराज)

मानव मूल्यों के विघटन, सामाजिक विषमताओं एवं युद्ध की विभीषिकाओं के कारण निराशा का स्वर नयी कविता में व्याप्त है। कवि दृष्यमान जगत के प्रवि **क्षणवादी** हैं। वह हर क्षण को पूर्णतः भोगने का आकांक्षी है –

''आओं हम उस अतीत को भूलें/और आज की अपनी रग–रग के अन्तर को छूलें/छूलें
इसी क्षण/क्योंकि कल वे नहीं रहे/क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।''

(अज्ञेय)

नयी कविता में जो **यथार्थवादी दृष्टिकोण** दिखाई देता है। उसके मूल में वैज्ञानिक विकास की युगीन स्थिति और विज्ञान से प्रभावित जीवन की परिस्थिति है। मुक्तिबोध, अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, सर्वेश्वर, भारतभूषण आदि कवियों की कविताएँ वैज्ञानिक जीवन के सन्त्रास को अभिव्यक्त करती हैं –

''तुमने देखा है सड़ने लगे हैं नगर और फल
और मरे हुए हैं गेहूँ धानों के खेत और उछाह''

यांत्रिक सभ्यता वर्तमान युग धर्म है जिसकी अभिव्यक्ति यथार्थ रूप में नयी कविता में हुई है।

''यंत्रबाहु, यंत्रचरण, यंत्रहृदय, यंत्रबुद्धि
सब कुछ यन्त्रित केवल इच्छाएँ अनियंत्रित।''

(जगदीश गुप्त)

अंधा युग, संशय की एक रात, आत्महत्या के विरूद्ध, शिलापंख, चमकीले युद्ध कविताएँ आदि रचनाओं में वैज्ञानिक जीवन की समस्याओं की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। विज्ञान ने तार्किक शक्ति और बौद्धिकता को जन्म दिया है। अब मनुष्य के सामने अदृष्य का महत्व नहीं रहा है। वह प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने लगा है। तर्क उसके विश्वास की सबसे बड़ी कसौटी बन गया है। यही कारण है कि नयी कविताओं ने परम्परागत आध्यात्मिकता धर्म तथा ईश्वर सम्बंधी स्थापनाओं को स्वीकार नहीं किया है।

उसकी मान्यता है कि धर्म और ईश्वर सम्बंधी धारणाएँ मनुष्य के सामाजिक अंतःकरण और नैतिक संवेदनशीलता को कमजोर बनाती है। अतः ऐसी सत्ता पर विश्वास करना अपने अस्त्तित्व को बेच देना है।

''जीवन का ज्ञान है सिर्फ जीना मेरे लिए
इससे विराट चेतना की अनुभूति अकारथ है
हल होती हुई मुश्किलें
खामखाँ और उलझ जाती है।''

(दुष्यंत कुमार)

नयी कविता में **काम और प्रेम** के सम्बंध में नयी सोचे को अपनाया है। नयी कविता की मान्यता है कि प्रेम और काम का वर्गों विभाजन नहीं होना चाहिए और यह वर्गो व्यक्ति की नैसर्गिक बुभूझा है। वस्तुतः प्रेम मुक्त आत्मा की मुक्ति की सगर्व घोषणा है। उसके क्षेत्र में जब तक आधारहीन नैतिक आदर्श और किन्हीं अजाने कारणों से गढ़ी गई सामाजिक मान्यताएँ अपना प्रभुत्व जमाती रहेगी तब तक अमृती प्रेम, विषपूरित कनक घर ही बना रहेगा। आज के युग की जरूरते प्रेम को प्रेम रहने देने की है। उसे अन्य किसी भी तत्व से प्रतिबद्ध करना बेमानी है। आखिर सबसे अधिक बंधन और वर्जनाएँ इसी क्षेत्र में क्यों लगाये जाएँ? धर्मवीर भारती की 'फीरोजी होंठ' और 'गुनाह का गीत' आदि कविताएँ इस प्रश्न को बखूबी उठाती है।

काम और प्रेम के सम्बंध में नयी कविता ने संवेदनात्मक स्तर पर परिवर्तन ग्रहण किया है। आज स्थिति बदल गई है। प्रेम के सहचर काम को भी महत्व मिला है, और इस मिश्रण से जो मूल्य सामने आए हैं वे किसी देवी–देवता की स्तुति के मूल्य नहीं, व्यक्ति

के यथार्थ जीवन के मूल्य हैं। जो गढ़े नहीं जाते, घटित होते हैं। जो व्यक्ति की वासना को अनैतिकता कर प्रश्न नहीं बल्कि उसे संस्कारित करने का प्रयास करते हैं।

''क्या है प्रेम? घनीभूत इच्छाओं की ज्वाला है
क्या है विरह? प्रेम की बुझती राख भरा प्याला है।''

(अज्ञेय)

''जब सूनी पलकों पर उतरा
वहीं तुम्हारा सस्मित आनन
वे काली सलज्ज सी आँखें
भटकी भोली सी नवचितवन''

(गिरिजाकुमार माथुर)

''आह, मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त, तुम कहाँ हो नारि ?''

(अज्ञेय)

इस प्रकार नयी कविता अपनी जमीन से जुड़कर बहने वाली ऐसी काव्यधारा है। जिसने तमाम विरोधों को सहते हुए युग चेतना की अभिव्यक्ति की है। नयी कविता की यात्रा साधारण मानव की यात्रा है। वह व्यक्ति को साथ लेकर चली है और जीवन से इस प्रकार सम्बद्ध है कि छोटी से छोटी घटना भी उसका प्रतिपाद्य बन गई है। इसने अभिव्यक्ति के नवीन क्षेत्रों का उद्‌घाटन किया है। उसकी नयी सोच के आधार पर मनुष्य को केवल मानवीय अस्मिता के प्ररिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जा सकता है। मानवेत्तर काव्य में बंद कर जीवन से दूर नहीं किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

01. नयी कविता की पहचान – रामस्वरूप चतुर्वेदी
02. भारतीय परिवेश और साठोत्तरी कविता – गोविन्द रजनीश
03. नयी कविता की चेतना – जगदीश कुमार
04. आवाजों के घेरे – दुष्यंत कुमार
05. गर्म हवाएँ – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
06. आंगन के पार द्वार – अज्ञेय
07. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ – डॉ. जगदीश गुप्त
08. समकालीन कविता की वैचारिक पीठिका – डॉ. गंगाप्रसाद विमल
09. नयी कविता : उद्‌भव और विकास – डॉ. रामवचन राय

'Alcestis' on the Altar of Passion and Duty

Dr. Manisha Mathur
Asst. Professor in English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore (M.P.)

'Alcestis' is an excellent Athenian tragedy by the ancient Greek playwright Euripides. It was first produced at the city Dionysia festival in 438 BC. It is based on Greek mythology. Apollo is exiled by Zeus from Olympus for slaying cyclops. Since Zeus is displeased, Apollo is forced to live among men as a slave. His master during the years of exile is King Admetus of Pherae in Thessaly. Admetus is a kind master and Apollo is led to believe that he is wise and generous king. In the meanwhile, Goddess Atremis is offended by Admetus and she decrees that he would die before his time. Apollo comes to his rescue and the 'fates' agrees to spare Admetus if someone offers his life to save the King from death. Only Alcestis, the wife of Admetus volunteers to die for the sake of her husband. The play depicts the day on which the Death comes to take Alcestis to the underworld. She prepares herself for it. She prays to the Goddess of hearth to protect her two children and she offers wreaths to the household deities. Thereafter, she bids farewell to her husband and children. Admetus weeps and promises his wife to take care of her children and not to marry for the rest of his life. The palace doors open and Admetus is seen holding his dying wife in his hands.

In the meantime it is reported that Heracles, the great athlete has come to meet him. Admetus takes the body of his wife back into the palace and decides to entertain Heracles in pursuance of the laws of hospitality. He even conceals the death of his wife from his guest. Heracles passes the night in drinking, singing and merry-making.

A quarrel between Admetus and his father ensues Admetus chides the old man for his selfishness in saving his own life which was almost over instead of saving the life of his son. At this Pheres, his father, rebukes him for allowing his wife to die in his place. He calls it a cruel act of Admetus and warns him that the brother of Alcestis would avenge it. Admetus feels disgusted and asks his parents never to come to him. One of the faithful servant resents Heracles' revelries and Heracles resents the rudeness of the servant. At this time he is told of the death of Alcestis. On hearing this, the mood of Heracles changes abruptly and he decides to wrestle with death and take back Alcestis as a repayment of Admetus' hospitality. He says: "He took me into his house, he did not drive me away, despite the fierce weight of his

sorrow; He said it, in his kindliness and with His usual tact. Is there in Thessaly, or Greece, a man more liberal than he? ”

[Alcestis 855-59]

Admetus laments his fate and the death of his wife. He feels sorry for his weeping children and lamenting slaves. He regrets that he does not possess the voice of Orpheus or else he might have retrieved Alcestis. He is ashamed of his cowardice in allowing his wife to die in his place. In fact, Admetus does so, not merely for love of his life, but also to save Alcestis and his children from the misery that might have overtaken them after his death. Life becomes a burden to him, He repents for allowing Alcestis to die in his stead. He realizes the truth that his dead wife was happier than he is. The chorus also sings of her nobility and sacrifice. In the meantime, Heracles returns after his confrontation with Death, bearing Alcestis with hum and asks Admetus to take care of her. At first Admetus is horrified at the suggestion but later mourning changes into rejoicing.

King Admetus is the hero of ‘Alcestis’. He is a man of ‘high state of fame’. Goddess Artemis is somehow offended and so he is fated to die a premature death. He thinks that someone will offer his life in his stead, but only his wife volunteers to do so. Alcestis by her ‘heroic decision’ saves her husband’s life. Adnetus also makes the ‘heroic decision’ of playing a perfect host, inspite of the death of his wife. He possesses ‘tolme’ which means ‘nerve for courageous and decisive commitment and resolute action’. It is a heroic quality in Greek tragedy. He is noble through his ‘tolme’ and his ‘physics’. Admetus inspires Heracles to match him in his nobility by showing that he has played host to be a ‘noble guest’. The nobility of Admetus is brought out by the fact that he does not himself talk about his heroic decision as Alcestis and Heracles both do. He is ‘hosios’ or punctilious with Apollo who rewards him for this quality. His hospitality is also rewarded as Heracles rescues Alcestis. He possesses the finer qualities of warmth, tolerance and generosity. The chorus praises his noble action and when Heracles reproaches him for concealing the death of his wife from him, Admetus answers that it was purely on account of his purest selfishness to minimize the unpleasant consequences to himself of turning away a noble guest. Admetus is amply rewarded for his kindness and hospitality by the return of Alcestis. Alcestis might have readily found a new husband but western critics do not well-appreciate the feelings of a devoted and faithful lady like Alcestis, who, in the manner of an oriental female, is ready to lay down her life or even voluntarily end it for the sake of her husband, or at his impending death. Alcestis considers life as worthless after death of Admetus, as he himself realizes after the death of Alcestis. So Admetus accepts life for the sake of Alcestis as she prefers death, as

relief from tortures and mental agony she would have suffered after the death of Admetus. She is a true and faithful wife. Pheres says,

"She was a credit to the whole female sex by having the courage' tlasa to do this noble deed".

It appears that Admetus and Alcestis are in a competition of self-sacrifice. In Greek drama, if there are women characters like Althoea who murdered her own son; Scylla, murderess of her father; Clytemnestra who like the women of Lemnos, murdered their husbands; Medeia who murdered her brother, Herodias, Hoglah and Jezebel, the adulteresses of Greece: Euripides produces Alcestis, who is an incarnation of devotion and fidelity. She lays down her life so that her husband might live. Alcestis of Euripides comes as a reaction to the earlier creations of Aeschylus and Sophocles. Through Alcestis, Euripides seems to convey the moral lesson that even death can be averted by the qualities of liberality, piety and hospitality. Admetus possesses all the aforesaid qualities.

Admetus is in sharp contrast with Jason, as Alcestis is to Clytemnestra. Admetus decides to grieve for Alcestis forever and wants to have a statue for her. He wishes to descend to underworld like Orpheus and bring back his wife. It is not a mere wish but he actually attempts to throw himself into the grave and join her. In fact Admetus and Alcestis constitute a most devoted pair. This fact is proved by their final appeal to Apollo in her death scene. There is a sharp contrast between his life as the King of Pherae with Apollo as one of his servants, and his plight after the death of Alcestis with wounded reputation, emptiness at home and weeping children. Even his parents chastise and mock at him. He hardly suffers from any vice or depravity. The calamity befalling Admetus is exceptional and unexpected and it arouses the feeling of pity and fear. Only a miracle saves him from utter ruin.

Euripides is a rationalist. He thinks that reason should be the guide to life. Man has certain non-rational emotions which sometimes thwart reason and bring calamity. Euripides' tragic hero is mankind. Some natural passion exceeds its limits and it brings about the catastrophe on the sinner or those around him or on both. Aeschylus and Sophocles believe in Zeus as the symbol of unity and underlying harmony but Euripides does not have any such faith. Dike is the basic norm in Sophocles. His tragedies are based on the concept of a universe which in itself is orderly. Euripides' universe is shot through with passions and non-rational emotions. In a Sophoclean tragedy, the hero is placed in circumstances which culminate in disaster for the hero, while Euripides' tragic conception is that passions and unreason cause the sufferings of the hero and culminate in tragedy. In his plays there is no tragic interlock between character and situation.

References:

01. Euripides: A student of Human Nature, by W.N. Bates, Philadelphia (1930).
02. The Tragedies of Euripides, by T.B.L. Webster Methuen & Co. Ltd. London (1967)
03. Euripides and His Age, by Gilbert Murray, New York (1913)
04. Twentieth Century Interpretation of Euripides' Alcestis (A collection of Critical Essays). Edited by John R. Wilson, London (1968)

उच्च शिक्षा में जीवन मूल्य (नैतिक मूल्य)

प्रो. कुम्भन खण्डेलवाल,
प्राध्यायक – वाणिज्य
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

सारांश

''अपने देश के सर्वागीण विकास में जीवन मूल्य आधारित उच्च शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान हो सकता हैं।''

विश्व के वर्तमान परिदृश्य में – उच्च शिक्षा केवल रोजगार आधारित हैं। अपने देश की चर्चा करे तो वर्तमान विद्यार्थी डिग्री हाथ में लेते ही ''नौकरी'' की तलाश करते हैं जिसमें कई विद्यार्थी अपने आपको असफल पाते है। दूसरी तरफ स्वरोजगार करने में भी अपने आपको असमर्थ पाते है। इस प्रकार की असमर्थता के कारण विश्व–व्यापी प्रतिस्पर्धा का सामना करने में असमर्थ रहते है इनको समर्थ बनाने के लिए परिवार के सदस्यों, रिश्तेदार, शिक्षक–वर्ग आदि सभी जीवन मूल्यों का हवाला देकर सफलता हासिल करने की प्रेरणा देते है।

इस रोजगार आधारित उच्च शिक्षा में जीवन मूल्य संबंधी अध्याय भी जोडना होगे। जीवन मूल्य या नैतिक मूल्य के अंतर्गत आदर–सम्मान, विन्रमता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, देश प्रेम शामिल है। रोजगार अर्जन की शिक्षा जीवन मूल्य सहित हो तो व्यवसायिक समाज में बदलाव दिखने लगेगा।

उच्च शिक्षण संस्थानो का क्षेत्र–विश्व स्तर पर हो चुका हैं। विद्यार्थियों का संप्रेषण विश्व स्तर के विद्यार्थियों से होता है। संसार–क्रांति भी पूर्ण रूप से विश्व स्तर की है। अतः शिक्षण सामग्री–शिक्षण व्यवस्था भी ''सर्वेभवन्तु सुखिनः'' ''सर्वेसंतु निरामयः'' के सिद्धांतो पर आधारित होना चाहिये।

कुंजी शब्द – सर्वागीण, आजीवीका, नैतिक मूल्य, संचार क्रांति।

.....

प्रस्तावना :– अपने राष्ट्र की भूमिका सभ्यता के आरंभ से मानी गई हैं जिसका मूल आधार ''जीवन–मूल्य'' रहा हैं। पौराणिक ग्रंथो के आधार पर :–

- प्रकृति प्रदत–पानी–वायु, आकाश, मिट्टी, अग्नि को देवता का रूप दिया गया है –
- वेद–उपनिषदों में उल्लेखित मार्गदर्शन जीवन मूल्य के महत्व को रेखांकित करता है।
- ऐतिहासिक काव्य–कहानियों में जीवन के नैतिक मूल्यों का उल्लेख मिलता है।

प्रमुख उद्देश्य

- भारत में उच्च शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य को समझना।
- अपने देश की उच्च शिक्षा के विद्यार्थी की मौलिक आवश्यकता को समझना।
- उच्च शिक्षा में आजीविका के साथ जीवन मूल्यों के महत्व को जानना।
- उच्च शिक्षा को और अधिक सदृढ करने हेतु सुझाव देना।

शोध प्रविधि एवं समंको का संकलन

प्रस्तुत शोधपत्र में विभिन्न संदर्भ ग्रंथो, प्रकाशित लेखों, शोधपत्रों, समाचार पत्र–पत्रिकाएँ आदि से एकत्रित जानकारी एवं द्वितीयक समंको का उपयोग किया गया है।

साहित्य समीक्षा

डॉ. अनुराधा सिंधवानी (फरवरी 2013) के शोधपत्र में स्पष्ट उल्लेखित किया गया है कि, उच्च शिक्षा में जीवन मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना जीवन मूल्य के सर्वांगीण विकास असम्भव है। भारतीय युवाओं में गिरते मूल्य (नवम्बर 2013) लेख में श्री हाशमी ने युवाओं में गिरते मूल्यों पर गहरी चिंता व्यक्त की है। वर्तमान में युवाओं के द्वारा नैतिक मूल्यों को नजरअंदात किया जा रहा है। प्रो. डी.एन. तिवारी (बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय) के लेख में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जीवन मूल्यों की समीक्षा की गई है। प्रो. तिवारी के अनुसार उच्च शिक्षित युवाओं में जीवन मूल्य एवं शिक्षा दोनों का समावेश होना चाहिये। प्रो. राम तकवाले ने अपने वक्तव्य (गोल्डन लेक्चर सिरीज यू.जी.सी.) में वैश्विकरण के चलते भारत की उच्च शिक्षा के सामने चुनौती एवं संभावनाओं का सटिक वर्णन किया है।

भारत में उच्च शिक्षा की नियामक संरचना

भारत में उच्च शिक्षा को नियंत्रित एवं निर्देशित करने वाली प्रमुख संस्थाएँ निम्नलिखित है–

1. **मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार –** भारत में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता तथा प्रसार एवं नीतिगत नियमों का बनाने एवं लागु करने की जिम्मेदारी मानव

संसाधन विकास मंत्रालय पर है। इन्ही उद्वेश्यों की पूर्ति हेतु मानव संसाधन विकास मंत्रालय का गठन 26 सितम्बर 1985 को किया गया।

2. **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग–** विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1956 के द्वारा की गई है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भारत में विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों को उच्च शिक्षा के विकास के लिये अनुदान प्रदान करता है। उच्च शिक्षा में गुणवत्ता के मानक तय करने के साथ दिशा निर्देशों का समन्वयन करने का महत्वपूर्ण कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पास है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग संपूर्ण राष्ट्र में शोध कार्यो को बढ़ावा देने के लिये अनुदान प्रदान करता है। विभिन्न विश्वविद्यालय एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं में नियुक्त के नियमों का निर्धारण एवं समय–समय पर बदलाव का कार्य भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा किया जाता है।
3. **राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद् –** राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद् एक स्वायत्त संस्था है, जिसकी स्थापना विश्वविद्याालय अनुदान आयोग के द्वारा 1994 में की गई। चयह परिषद् विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं में उपलब्ध संसाधनों एवं मानकों का निरीक्षण कर उन्हे ग्रेड प्रदान करता है।
4. **अखिल भारतीय तकनीकि शिक्षा परिषद् –** अखिल भारतीय तकनीकि शिक्षा परिषद् की स्थापना 1987 में की गई। इसका मुख्य उद्धेश्य भारत में तकनीकि शिक्षा का नियंत्रित एवं निर्देशित करना है।

भारत में उच्च शिक्षा की संस्थागत संरचना

भारत में उच्च शिक्षा की संस्थागत संरचना निम्न प्रकार से है:

1. **विश्वविद्यालय** – उच्च शिक्षा में विश्वविद्यालय एक प्रमुख संस्थान है, जो यूनिवर्सिटी टीचिंग डिपार्टमेंट के द्वारा तथा विभिन्न महाविद्यालयों को सम्बद्वता प्रदान कर उच्च शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है। वर्तमान में भारत 737 विश्वविद्यालय कार्यरत है, जिसमें 339 राज्य विश्वविद्यालय, 226 निजी विश्वविद्यालय, 126 डीम्ड विश्वविद्यालय तथा 46 केन्द्रीय विश्वविद्यालय सम्मिलित हैं।

2. **भारतीय प्रबंधन संस्थान –** प्रबन्ध शिक्षा में गुणवत्ता एवं शोध कार्यो को बढाने हेतु विद्यार्थियों को वैश्विक प्रतिस्पर्धा के योग्य बनाने के लिये भारतीय प्रबंधन की स्थापना की गई है। वर्तमान में भारत 19 भारतीय प्रबंधन संस्थान कार्यरत है, जो अमृतसर, रोहतक, सिरमोर, काशीपुर, लखनऊ, गया, शिलोंग, उदयपुर, अहमदाबाद, इन्दौर, रायपुर, रांची, कोलकत्ता, नागपुर, सम्बलपुर, विशाखापट्टनम, बैंगलोर, कोजीकोड तथा त्रिबी में स्थापित है।
3. **भारतीय तकनीकि संस्थान –** तकनीकि शिक्षा में गुणवत्ता एवं शोध कार्यो को बढावा देने हेतु 1961 में भारतीय तकनीकि की स्थापना की गई। वर्तमान में 16 भारतीय तकनीकि संस्थान कार्यरत है, जो चेन्नई, गुवाहटी, कानपुर, खड़गपुर, मुम्बई, राउरकेला, भुवनेश्वर, गाँधीनगर, हैदराबाद, इन्दौर, जोधपुर, मण्डी, पटना, रोपड़ तथा वाराणसी में स्थापित है।
4. उपरोक्त के अलावा विश्वविद्यालय से सम्बद्वता प्राप्त महाविद्यालय तथा स्वायत्त महाविद्यालय उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत है।

स्त्रोत – वार्षिक रिपोर्ट : मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार।

भारतीय उच्च शिक्षा एवं जीवन मूल्य :

वर्तमान उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्विकरण के दौर में जहाँ एक ओर गलाकाट प्रतिस्पर्धा हैं, वहीं दूसरी और जीवन एवं नैतिक मूल्यों की रक्षा करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के विद्याार्थियों को वर्तमान व्यवसायिक संस्थाओं के लिये उपयुक्त बनाने के साथ–साथ उनके आत्मिक विकास के लिये नैतिक मूल्यों का समावेश अत्यंत आवश्यक है। भारत में नैतिक मूल्यों एवं सामाजिक मूल्यों का गौरवशाली इतिहास रहा है। हमारे यहाँ गुरूकुल शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत धर्मग्रंथो एवं नैतिक मूल्यों पर परिचर्चा आयोजित की जाती थी, जो विद्यार्थियों के नैतिक स्तर को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। वर्तमान परिदृश्य में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों तथा अन्य उच्च शिक्षा संस्थाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्वि हुई है। जिसमें विदेशी विद्यार्थियों की संख्या भी बहुत अधिक मात्रा में है। उच्च रोजगार दिलाने के महत्वपूर्ण उद्धेश्य को ध्यान में रखते हुए जीवन मूल्यों का संरक्षण करना एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी उच्च शिक्षा क्षेत्र की है। जीवन मूल्यों को युवाओं में सुदृढ़ता से स्थापित करने हेतु निम्नलिखित प्रयासों को किया जाना प्रासांगिक है –

- उच्च शिक्षा पाठ्यक्रमों में नैतिक मूल्यों को अन्य विषयों के समकक्ष समानता प्रदान करना।
- धार्मिक एवं अध्यात्मिक परिचर्चाओं को अध्ययन में शामिल करना।
- प्रवेश परीक्षाओं में नैतिक एवं जीवन मूल्यों से संबंधित विषयों को समाविष्ट करना।
- उच्च शिक्षा में चयन को योग्यताओं में शैक्षणिक के साथ–साथ नैतिक मूल्यों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये।
- भारत की गौरवशाली परम्पराओं को पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिये।
- विभिन्न शासकीय एवं निजी विभागों में पदोन्नति के नियमों में नैतिक एवं सामाजिक मूल्य के महत्व को समाविष्ट किया जाना चाहिये।

उपसंहार

वर्तमान दौर में उच्च शिक्षित युवाओं को प्रतिस्पर्धा में बनाए रखने हेतु एवं उच्च रोजगार प्राप्ति हेतु उच्च गुणवत्ता एवं प्रायोगिक शिक्षा देना प्रत्येक उच्च शिक्षा संस्थान की जिम्मेदारी है, किंतु युवाओं को सफल व्यवसाय, डॉक्टर इंजीनियर, मेनेजर, शिक्षक आदि बनाने के साथ–साथ उनमें नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों को समाविष्ट करने की जिम्मेदारी भी सम्पूर्ण शिक्षा जगत की है। तभी हम राष्ट्र एवं समाज को सर्वोगीण विकास के मार्ग पर सुदृढ़ता से ले जा सकेंगे।

व्यापार–व्यवसाय की सफलता का आधार : नैतिक मूल्य – ''पूँजी के आधार पर व्यापार–व्यवसाय छोटा–बड़ा प्रारंभ हो सकता है लेकिन उसकी सफलता व्यापारी–व्यवसायी की नियत पर निर्भर करती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

01. वार्षिक रिपोर्ट – मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार।
02. वर्तमान भारतीय उच्च शिक्षा – दशा एवं दिशा, रिसर्च लिंक शोध पत्रिका, मार्च 2015
03. वेल्यू इन हायर एज्युकेशन – प्रकाशित लेख प्रो. डी.एन. तिवारी, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय।
04. भारत के उच्च शिक्षा में वैश्विकरण की चुनौतियाँ एवं सम्भावना।
05. प्रो. राम तकवाले, गोल्डन लेक्चर सीरीज यू.जी.सी.।
06. शोधपत्र वेल्यू इन हायर एज्युकेशन – नीड एण्ड इम्पोर्टेन्स।
07. डॉ. अनुराधा सिंघवानी एवं डॉ. राजीव कुमार, फरवरी 2013।

Adit and Sarah : Symbols of alienation , Nostalgia and identity crisis in Bye Bye : Black-Bird

Dr. Alka Tomar
Asst. Professor in English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore (M.P.)

In Anita Desai Novel, women have been centre of attraction. Her novels like 'Voices in the city' 'Cry, the peacock' deal primarily with women's issues. The scene of this novel is in London and it has been divided into three parts - The visitor, Recognition and Discovery, The Departure. It deals with the theme of alienation from the angle of immigrants. Its focus is the story of three Indian couples – Mala and Jasbir, Dev and Bella and Sarah and Adit. Adit is the most sensitive character and goes to London in search of lucrative job, gets acquainted with Sarah and marries her. In the first part of the book, he is trying to get used to foreign soil. This settling down on the soil of foreign land is not without price. Adit like other Indian experiences very subtle discrimination. Dev also comes to London to get education from that institution he wish to counteract prejudices against Asians. To be in a country generates a sense of unfamiliarity and uncomfortableness. Immigrant's experiences problem of adjustment and alienation on a foreign soil. Dev exclaims that 'But this is a jungly city, this London of your'[1]. The immigrants have to adapt to the culture of the adopted land where they meet with contempt and segregation, they are alienated from their native culture and later on feel nostalgia for their roots. Anita desai has explored the aspects of nostalgia caused by alienation in this insensitive, inconsiderate and materialistic world which compels migrants to search for their roots. Their separation from their native land creates alienation which is furtherer intensifies by racial discrimination. This very fact she has highlighted by portraying agony and anguish of its male and female protagonist, Adit and Sarah respectively.

Adit and Sarah represent and reflect pain and travails of interracial marriage. Sarah's marrying an Indian entrenched the feeling of loneliness and she is reminded of this fact by her English friends. This is a common reaction among British that these Black invaders are spoiling their emerald island. While travelling in a Bus she is overpowered by he feeling of stark loneliness "The common with at fixed expression of stark loneliness that had so stirred her husband on another rainy afternoon." [2]

Sarah wants to shield herself from the rest of the world separating herself from the world with its lustrous curtain. This very rain deepens the feeling if loneliness and she wants to keep herself segregated from world.

The British pattern of residential arrangement further deepens the feeling of alienation in Adit: "He is perfectly aware of schizophrenia that is infecting him like the disease to which all Indian abroad, he declares are prone."[3] Dev and Adit both go through initial problem of adjustment. While Dev accepts London as its home. Adit, on the other hand slowly and slowly gets alienated and gets home sick frequently. "The long lingering twilight of the English summer trembling over the garden had seemed to him like an invalid stricken with anaemia, had aroused in him a sudden clamour, like a child's tantrum to see again an Indian sunset, its wild conflagration, rose and orange, flamingo, plink and lemon, scattering into a million sparks in the night sky.

Adit and Sarah, they stand in sharp contrast to each other. Even the very world Indian reminds him of his own country, dust laden and odour laden Air, Sarah maintains his anglosaxon detachment while Adit has a schizophrenic feeling for being on a foreign soil ; "She was experiencing an unsettling wave of that intermittent schizophrenid that Adit said was a result of her having been an Indian in a past incarnation and that sometimes allowed her to feel herself into an Indian mood while still able to observe herself undergoing this curious transformation with her normal Saxon detachment " Adits initial euphoria of being in Britain vanishes like anything . He does not feel comfortable in a church and feels like worshipping in a traditional Indian way. Wishing he had a stick of incense to burn , a handful of jasmine of marigold to offer , Hindu fashion , to the grace of Christianity and he felt like entering in church silently and leave silently alone. Adit recalls his days of Calcutla and again and again relapses in days of Calcutla and Sarah passes through an emotional crisis after getting into family way and faces an emotional journey and his very reaction of asking for wearing Sari generates india nation it itself a traumatic experience for her and reaction of Adit creates crisis in her life. Sarah feels alien in her own house and holds her cat in order to avoid assault and Adit decision for leaving India leaves no choice for her. She feels cheated and uprooted and wants to go her father before leaving for India. This very process of preparation before leaving arouses feeling of pathos and gives us a glimpse of rootlessness and it is an emotional journry for Sarah from her native land to land of her husband. Racial discrimination and prejudices are so entrenched that frequest interaction and communication fail to eradicate them. Sarah reacts in a typical British fashion after entering into house of Adits friend and smell of food and even interior of the house generates unpalatable gestures

and reactions. Sarah is an epitone of existential character. She is oversensitive; marriage has given nothing but alienation and loneliness. By marrying a wog she has generated hostility among her colleages. In Sarahs life pathos of culturally alienated girl is movingly a rendered. She feels as if she has any existence at all and felt she well not be able to give up profession on stage and lead life according to her own volition.

Adit and Dev represent the typical experience which an migrant has to experience in a cultural of adopted land. Cultural differences shock then cultural identity. Characters such as Mrs James, Mrs. Miller and even a snobbish bus conductor or cheeky boy are enough to serve her purpose of accentuating the alienation of Indian character. Adit Sen searches his self and takes decision of leaving for India while he assesses his wife's loss of self and identity. Anita Desai has meticulously delineated loneliness and anguish of its protagonist thus carrying forward a prychological insight into the inner recesses of its meted or celebrated characters.

References:

01. Desai Anita, Bye-Bye Black-bird, New Delhi, Orient Paperbacks. P.P. 12
02. Ibid, p 40
03. Ibid, p 86
04. Ibid, p 202
05. Ibid, p 168
06. Singh, S.P., New Concepts of Post-Modern Novelists, New Delhi, Sarup Book Publications. P.P. 100.

प्रथम हिन्दी समाचार पत्र–'उदन्त मार्तण्ड'

डॉ. माधुरी शेरे
अतिथी विद्वान (इतिहास)
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

हिंदी पत्रकारिता के मनु **श्री युगल किशोर शुक्ल** ने **30 मई 1826 ई.** को **'उदन्त मार्तण्ड'** साप्ताहिक का प्रकाशन **कलकत्ता के कोलू टोला** (आमडातल्ला गली) से किया जिसका लक्ष्य हिंदी और हिन्दवासियों का हित साधन था। परंतु बंगाल में हिंदी का प्रचलन न होना और आर्थिक कठिनाईयों के कारण यह पत्र अधिक दिन न चल सका। 4 दिसम्बर 1827 ई. के अंतिम अंक में संपादक ने बड़ी व्यथा के साथ लिखा था–

''आज दिवस लौ उग चुक्यौ मार्तण्ड उदन्त।
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्त।।''

हिंदी के इस पत्र को माँगने पर भी सरकार से कोई सहायता न मिली जबकि हरिहर दत्त द्वारा प्रकाशित फारसी के पत्र 'जामे जहांनुमा' को सरकार मदद देती थी, इसकी प्रतियाँ स्वतः खरीदती थी। 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रधान उद्देश्य हिंदी भाषा भाषियों में विविध विषयों संबंधी शिक्षाप्रद ज्ञान का प्रचार करना था। अल्प समय में ही अपनी भाषा के स्तर और कुशल संपादन के कारण तथा संघर्ष एवं आदर्शवादिता के ऊँचे प्रतिमानों को कायम करते हुए 'उदन्त मार्तण्ड' ने हिंदी पत्रकारिता में एक महत्वपूर्ण परंपरा की शुरुआत की। भाषा एवं विचारों की दृष्टि से 'उदन्त मार्तण्ड' सुसंपादित पत्र था। **अंबिकाप्रसाद बाजपेयी** के अनुसार–''जहाँ तक 'उदन्त मार्तण्ड' की भाषा का प्रश्न है, वह उस समय लिखी जाने वाली किसी भाषा से हीन नहीं हैं। उसके संपादक बहुभाषज्ञ थे। यह उनका बड़ा भारी गुण था और यद्यपि उनका 'उदन्त मार्तण्ड' डेढ वर्ष ही निकला, तथापि प्रूफ की भूलें जो प्रेसों में बराबर होती रहती है, उनका ध्यान रखकर हमें यह निःसंकोच कहना पड़ता है कि 'उदन्त मार्तण्ड' हिंदी का पहला समाचार पत्र होने पर भी भाषा और विचारों की दृष्टि से सुसम्पादित पत्र था।''

'उदन्त मार्तण्ड' का अर्थ है समाचार सूर्य। इस समाचार पत्र के प्रकाशन की जानकारी से पूर्व हिंदी समाचार पत्रों के पहले इतिहास लेखक बाबू राधाकृष्ण दास ने अपने

''हिंदी भाषा के समसामयिक पत्रों का इतिहास'' (1894 ई.) में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की सहायता से और गोविन्द रघुनाथ थत्ते द्वारा संपादित 'बनारस अखबार' (1845 ई.) को हिंदी का पहला समाचार पत्र माना था। 'उदन्त मार्तण्ड' को प्रकाश में लाने का श्रेय कलकत्ता के शोधकर्ता एवं बंगीय–साहित्य परिषद के ग्रंथाध्यक्ष ब्रजेन्द्र नाथ बंधोपाध्याय को हैं। इन्होंने नवम्बर 1931 ई. में ''हिंदी समाचार पत्रों की आरंभिक कथा'' शीर्षक लेख प्रकाशित किया इसके आधार पर इतिहासकारों ने अपना मत बदला तथा 'उदन्त मार्तण्ड' को हिंदी का प्रथम समाचार पत्र मान लिया यद्यपि इसके पूर्व अप्रैल 1818 ई. में 'दिग्दर्शन' नामक एक बहुभाषी पत्र श्रीरामपुर (बंगाल) से निकला था, जिसका प्रारंभ अंग्रेजी और बंगला भाषा में हुआ और बाद में हिंदी में भी प्रकाशित होने के साक्ष्य मिलते हैं। इसका प्रकाशन ईसाई मिशनरी जे.सी मार्शमेन ने किया। परंतु केवल हिंदी भाषा में प्रथम समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ही हैं।

'उदन्त मार्तण्ड' के संचालक और संपादक पं. युगल किशोर शुक्ल थे। शुक्ल जी का जन्म कानपुर में 1788 ई. में हुआ था। उस समय कलकत्ता में उत्तर भारत के लोग या तो व्यापार करने जाते थे या जिनकी रुचि पत्रकारिता में होती थी, वे भी वहाँ पहुँचते थे। प्रारंभ में शुक्लजी कलकत्ता की सदर अदालत में क्लर्क थे और बाद में वकील हो गए थे। उन्हें संस्कृत और हिन्दी की प्रचलित शैलियाँ, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का तो ज्ञान था ही, वे फारसी और बंगला भी जानते थे। 'उदन्त मार्तण्ड' के प्रकाशन की अनुमति 16 फरवरी 1826 ई. को प्राप्त हुई थी। पं. युगल किशोर शुक्ल ने लायसेंस की तत्कालीन व्यवस्था के अंतर्गत जो आवेदन पत्र प्रेषित किया था, वह इस प्रकार है–''हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि में एक साप्ताहिक समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' के प्रकाशन का आकांक्षी होकर मैं आपकी अनुमति से मजिस्ट्रेट के सम्मुख अपने मन्नू ठाकुर द्वारा परिपुष्ट अपेक्षित 'शपथ–पत्र' प्रषित करके उसके लिए सरकारी स्वीकृति का अनुरोध करता हूँ।

हस्ताक्षर/–युगल

किशोर

पं. युगल किशोर शुक्ल के आवेदन के उत्तर में सरकार के प्रमुख सचिव सी. लुशिंगन ने 16 फरवरी 1826 को अनुमति प्रेषित की थी। वह इस प्रकार है–''सपरिषद गर्वनर जनरल शपथ–पत्र में उल्लेखित भवन (कलकत्ता के कोल्हू टोला के अमर तल्ला की गली के 37 अंक की हवेली) तथा स्थान अमरतल्ला लेन कलकत्ता से अन्य किसी

स्थान से नहीं, मन्नू ठाकुर को एक समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' के मुद्रित एवं प्रकाशित करने का अधिकार प्रदान करते हैं। किसी भी दशा में मन्नू ठाकुर के अतिरिक्त और कोई भी व्यक्ति या समूह प्रकाशक नहीं हो सकता और न युगल किशोर के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति या व्यक्ति समूह संचालक ही हो सकता हैं।

आदेशानुसार
सपरिषद महामहिम गवर्नर जनरल
16 फरवरी, 1826

पं. युगल किशोर शुक्ल ने 'उदन्त मार्तण्ड' क्यों निकाला ? इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं पत्र के पहले अंक में ही किया है,–''यह 'उदन्त मार्तण्ड' अब पहले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो, आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जान्ने ओ पढ़ने वालों को ही होता हैं।.....अैसी अैसी बातों के विचार से नाना देश के सत्य समाचार हिन्दुस्तानियों लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेंय.....'' 'उदन्त मार्तण्ड' में सरकारी अफसरों की नियुक्ति, पब्लिक इश्तहार, जहाजों के आने का समय, कलकत्ता का बाजार–भाव तथा देश–विदेश के समाचार भी प्रकाशित होते थे। 'उदन्त मार्तण्ड' का आकार 12 गुणा 8 इंच था तथा पृष्ठ संख्या आठ थी। इसकी भाषा कलकतिया हिन्दी थी। इस पत्र के निकालने की खबर ''समाचार–चन्द्रिका'' नामक बंगला पत्रिका के 11 मार्च 1826 ई. के अंक में प्रकाशित हुई जिसके अनुसार–''अंग्रेजी और बंगला के पत्रों के बाद फारसी में, उर्दू में भी पत्र प्रकाशित हुए और अब नागरी भाषा में 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुआ हैं, जिससे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई हैं।''

पत्र के आवरण पृष्ठ के ऊपर काफी बड़े–बड़े अक्षरों में 'उदन्त मार्तण्ड' नाम अंकित रहता था। 'उदन्त मार्तण्ड' अर्थात्

''दिवाकान्तकान्ति विनाध्वान्तमन्तं
न चाप्नोति तद्वज्जगत्यज्ञ लोकः।
समाचार सेवामृते ज्ञत्वमाप्तं
न शक्नोति तस्मात्करोमीति यत्नं।।

31 वें अंक के बाद इस संस्कृत श्लोक के नीचे यह पद्य जोड़ दिया गया–

''दिनकर–कर प्रगटत दिनहि यह प्रकाश अठयाम।

ऐसो रवि अब उग्यो महि जेहि तेहि सुख को धाम।
उत कमलनि बिगसति करत, बढ़त चाव चित बाम।
लेत नाम या पत्र को होत हर्ष अरु काम।''

पद्य के नीचे दो आड़ी लकीरों के बीच में 'उदन्त मार्तण्ड' का अंक बार एवं मूल्य लिखा रहता था। पृष्ठ दो कालमों में विभाजित होता था।

'उदन्त मार्तण्ड' के पहले ही अंक में 'श्रीमान गवरनरजेनरल बहादुर का सभावर्णन' प्रकाशित हुआ था। उस समय लॉर्ड एमहर्स्ट भारत के गवर्नर जनरल थे। ब्रह्मा (बर्मा) की लड़ाई समाप्त हो चुकी थी और ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रह्मा (बर्मा) के राजा में उसी वर्ष संधि हुई थी। 'उदन्त मार्तण्ड' में उक्त संधि का पूरा ब्योरा भी प्रकाशित हुआ था। इस संधि के उपलक्ष्य में जो दरबार हुआ था, उसी का वर्णन हैं 'श्री श्रीमान् गवरनर जेनरल बहादुर का सभावर्णन'। आज की ही तरह उस जमाने में भी वकील अपने मुवक्किलों का बड़ा शोषण करते थे। उनकी शिथिलता के कारण मामले की सुनवाई और अदालती कार्रवाई में बहुत समय लग जाता था, इससे मुकदमेबाजों की बड़ी आर्थिक क्षति होती थी। आषाढ़ वदि 8 संवत् 1883 के 'उदन्त मार्तण्ड' में इसे ही लक्ष्य कर एक मजाक छपा है :

ठट्ठे की बात

''एक यशी वकील वकालत का काम करते करते बुड्ढ़ा होकर अपने दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन वह काम करके एक दिन आया ओ प्रसन्न होकर बोला हे महाराज आपने जो फलाने का पुराना ओ संगीन मोकदमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ यह सुनकर वकील पछता करके बोला कि तुमने सत्यानाश किया उस मोकदमें से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमै हाथ उठा के दे गए ओ हमने भी उसको बना रखा ओ अब तक भली भांति अपना दिन काटा ओ वही मोकदमा तुमको सौंप करके समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े से दिनों में उसको खो बैठे।''

बंगला पत्र 'समाचार चंद्रिका' में उत्तर भारतीय और मारवाड़ी व्यापारियों के विरुध्द एक चिट्ठी छपी थी। इसके उत्तर में 'उदन्तमार्तण्ड' ने उसी शैली में दो–तीन चिट्ठियाँ छापी तथा एक टिप्पणी भी लिखी जिसके उत्तर में 4 अप्रैल 1827 ई. को

'समाचार चंद्रिका' के संपादक भवानी चरण बैनर्जी ने उनके विरुध्द सुप्रीम कोर्ट में अपमानजनक सामग्री छापने के आरोप में कार्यवाही प्रारंभ करने की सूचना दी। यह दुर्भाग्य की बात है कि जिन व्यापारियों के हित के लिए श्री शुक्ल ने कानूनी कार्यवाही को आमंत्रित किया, उन्होंने उनका समर्थन करना तो दूर 'उदन्त मार्तण्ड' का ग्राहक चंदा भी अदा नहीं किया। परिणाम स्वरुप यह पत्र बंद करना पड़ा।

'उदन्त मार्तण्ड' की भाषा विचित्र हैं। कहीं भी एकरुपता नहीं हैं। सरकारी विज्ञप्तियों, पब्लिक इश्तहारों, जहाज की समय–सारणी, कलकत्ता के बाजार भाव संबंधी विवरणों में मिले–जुले शब्दों का जमघट हैं। अवधी, ब्रजभाषा, अंग्रेजी, उर्दू के साथ बंगला से प्रमाणित हिन्दी का रुप देखते ही बनता हैं। मुहावरों के प्रयोग से भाषा गतिशील हो गयी हैं। गद्य की प्रारंभिक स्थिति वाले पत्र की क्रिया–पदावली भी अस्पष्ट हैं। 'उदन्तमार्तण्ड' की भाषा पर बंगला का प्रभाव स्पष्ट हैं। तथापि इसकी संपादकीय टिप्पणियों की भाषा में एक व्यंगात्मक शक्ति हैं। विरोध की भाषा अधिक तेज हैं।

इस प्रकार हिंदी समाज के हितों के लिए 'उदन्त मार्तण्ड' बराबर संघर्ष करता था जिसके लिए उसे बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी। वैयक्तिक क्षति की ओर कम ओर अपने दायित्व के प्रति अधिक उसका ध्यान रहता था। लेकिन इस पर भी वह अधिक दिनों तक नहीं चल सका। ग्राहकों की कमी तो थी ही, सरकारी सहायता भी इसे सुलभ न थी। डॉ. रामरतन भटनागर ने लिखा है कि ''उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असंभव था। कंपनी सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परंतु कोशिश करने पर भी 'उदन्तमार्तण्ड' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी।''

प्रति मंगलवार को प्रकाशित होने वाला यह साप्ताहिक पत्र आर्थिक कठिनाईयों से अधिक दिनों तक न लड़ सका और 4 दिसम्बर 1827 ई. को यह हमेशा के लिए अस्त हो गया।

'उदन्त मार्तण्ड' के बंद होने के दो दशक से भी ज्यादा अरसा बीतने के बाद 1850 में श्री युगल किशोर शुक्ल ने **'साम्यदन्त मार्तण्ड'** नामक हिंदी का एक और समाचार पत्र प्रकाशित किया। 'उदन्त मार्तण्ड' हिंदी पत्रकारिता की नींव का वह पत्थर हैं जहाँ से न केवल पत्रकारिता का उदय हुआ है वरन् पत्रकारीय भाषा, शैली, अभिव्यक्ति की विभिन्न अन्तर्धाराएँ भी प्रवाहित हुई। हिन्दी पत्रकारिता का अध्ययन इस समाचार पत्र के सूक्ष्म अध्ययन के बिना पूरा नहीं हो सकता।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

01. अनुजा मंगला (1996) भारतीय पत्रकारिता–नींव के पत्थर, भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी

02. बाजपेयी अम्बिकाप्रसाद (2010), समाचार पत्रों का इतिहास, वाराणासी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड

03. भदौरिया संतोष (2001), अंग्रेजी राज और प्रतिबंधित हिन्दी पत्रिकाएँ, भोपाल : स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग

04. दुबे राजीव (1988), हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन, इलाहाबाद : सत्येन्द्र प्रकाशन

05. मिश्र कृष्णबिहारी (1985), हिन्दी पत्रकारिता, नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन.

श्रीधर विजयदत्त (2010), भारतीय पत्रकारिता कोश (1780–1900) खण्ड–एक, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन

तिवारी अर्जुन (1997), हिन्दी पत्रकारिता का वृहद इतिहास, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन

भारत में शहरीकरण की समस्या का प्रभाव : एक अर्न्तवस्तु विश्लेषण

डॉ. सुधीर सक्सेना
सहायक प्राध्यापक – समाजशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

'शहरीकरण' मानव सभ्यता के विकास का एक स्वाभाविक आयाम हैं। 'शहरीकरण' का सामान्य अर्थ गांवों का धीरे धीरे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा औद्यौगिक आधार पर नगर या शहर में होने वाला परिवर्तन है। शहर में वास्तुकला ही भिन्न नहीं होती बल्कि समाज, आचार–व्यवहार, खान–पान आदि भी भिन्न होता है। सबसे निर्णायक होती है, अर्थव्यवस्था। गांव में कृषि की केंद्रीय भूमिका होती है तो शहर में व्यवसाय और उद्योग की। वर्तमान में शहरीकरण ही सारी दुनिया की प्रकृति बनता जा रहा है, विकास और शहरीकरण मानो एक–दूसरे से पर्याय हो गए हैं। इस शहरीकरण से प्रबंधन की समस्याएं तेजी से बढ़ रही हैं। शहर में विषमता इतनी अधिक उजागर होती है कि अपराधीकरण का बढ़ना स्वाभाविक ही है। इसी तरह शहर के सबसे निचले स्तर पर झुग्गी–झोपडियां होती हैं। अस्थायित्व, अस्थिरता, असुरक्षा 'स्लम्स' की मूल पहचान होती हैं। ऐसे लोगों का अपराधोन्मुख होना स्वाभाविक होता है।

शहरीकरण का आज तक का सबसे उजागर पक्ष 'बुराई' है। पर उसका एक पक्ष अच्छाई का भी है। शहरीकरण में सभ्यता की उपलब्धियों को उपलब्ध कराने की वृत्ति काम करती है। इसका वाहक 'बाजार' बन जाता है। शहरीकरण के कारण चिकित्सा सुविधाओं, शिक्षा सुविधाओं एवं आवागमन के साधनों का विस्तार होता है। जिससे लोगों का जीवन सहज बन जाता है।

शब्दावली– 'स्लम्स'–गंदी बस्तियां, अनवरत– लगातार, अपराधोन्मुख–अपराध की ओर प्रेरित होना, 'ग्लोबल विलेज'– भूमंडलीकृत गांव आदि।

प्रस्तावना –

'शहरीकरण' मानव सभ्यता के विकास का एक स्वाभाविक आयाम हैं। जिसे हम आज 'सभ्यता' कहते हैं उसके विकास में सबसे पहले दो सत्ताएं कायम हुईं–राजनीतिक

और धार्मिक। उनके केंद्र राजधानी और तीर्थ स्थान के रूप में विकसित हुए फिर कुछ व्यवसाय केंद्र बने जो अधिकांशतः नदियों और समुद्र के किनारे बंदरगाह के रूप में विकसित हुए। औद्योगिक क्रांति के बाद सारी दुनिया की तरह भारत में भी औद्योगिक नगर बसे। भारत में नगरीकरण का एक और आयाम जुड़ा। जब ब्रिटिश सत्ता कायम हुई तो जलवायु की दृष्टि से भारत अंग्रेजों के लिए एकदम अनुकूल नहीं था–खास तौर से झुलसाने वाली गर्मी के दिनों में। इसलिए बंगाल, जहां से उनकी सत्ता शुरू हुई कलकत्ता के साथ दार्जिलिंग का विकास हुआ और जब राजधानी दिल्ली बनी (1911 ई.) तो शिमला भारत की ग्रीष्मकालीन राजधानी बन गया। स्वतंत्रता के बाद तो भारत में कुछ नई राजधानियां बनीं जिनका सबसे विख्यात उदाहरण चंडीगढ़ है। इसी तरह नए इस्पात नगरों के रूप में भिलाई, दुर्गापुर और राउरकेला बसे। इस प्रकार भारत में मोहनजोदड़ो, पाटलिपुत्र (पटना) और काशी से आधुनिक बंदरगाह कांडला तक शहरीकरण के अनवरत उदाहरण हैं। मध्यकाल में भी दक्षिण भारत में विजयनगर और फतेहपुर सीकरी जैसे असाधारण नगर बसाए गए थे।

शहर में वास्तुकला ही भिन्न नहीं होती बल्कि समाज, आचार–व्यवहार, खान–पान आदि भी भिन्न होता है। सबसे निर्णायक होती है, अर्थव्यवस्था। गांव में कृषि की केंद्रीय भूमिका होती है तो शहर में व्यवसाय और उद्योग की। गांव मनुष्य की बसाहट के बावजूद प्रकृति के अधिक करीब होता है तो शहर में प्रकृति को पार्कों और मनी प्लांट के गमलों में घेर कर रखा जाता है। काव्य की भाषा में कहें तो गांव में सहजता अधिक होती है और शहर में कृत्रिमता। बहरहाल वर्तमान में हालात तेजी से बदल रहे हैं और गावों में भी कृ त्रिमता का राज बढ़ता जा रहा है। वर्तमान में शहरीकरण ही सारी दुनिया की प्रकृति बनता जा रहा है, विकास और शहरीकरण मानो एक–दूसरे से पर्याय हो गए हैं। गांधीजी ने भारत को 'गांवों का देश' कहा था और अब तक चलन है 'भारतमाता ग्रामवासिनी' कहने का। परंतु आंकड़े बताते हैं कि गांवों से लोगों का तेजी से पलायन हो रहा है। शहरीकरण की रफ्तार इतनी तेज है कि अगले दो–तीन दशकों में भारत की आधी जनता शहरों और कस्बो में रहने लगेगी।

इस शहरीकरण से प्रबंधन की समस्याएं तेजी से बढ़ रही हैं। शहर में विषमता इतनी अधिक उजागर होती है कि अपराधीकरण का बढ़ना स्वाभाविक ही है। राजधानी में सबसे बड़े अपराध सबसे 'ऊपर' होते हैं। राजनीति में आदर्श और 'जीवन–मूल्यों' का क्षरण

होने से सभी प्रकार के अपराधों को राजनीतिक संरक्षण मिलने लगा है। उदाहरण के लिए शहरों में जमीन सबसे कीमती चीज बन गई है। इसलिए 'जमीन हड़पना' (Land-grabbing) सबसे 'उपजाऊ' अपराधिक पेशा बन गया है। इसमें नेता, भूस्वामी, मवाली, ठेकेदार जैसे 'शक्तिशाली' लोग शामिल होते हैं और अपराध की गंगा ऊपर से नीचे बहने लगती है। इससे शहर का हर स्तर प्रभावित होता जाता है।

इसी तरह शहर के सबसे निचले स्तर पर झुग्गी–झोपडियां होती हैं। अस्थायित्व, अस्थिरता, असुरक्षा 'स्लम्स' की मूल पहचान होती हैं। ऐसे लोगों का अपराधोन्मुख होना स्वाभाविक होता है। ऐसे में चोरी–नशा–जुआ–देह व्यापार आदि वहां रहने वाले मेहनतकशों को अपना शिकार बनाते चले जाते हैं। रहने की स्थितियां इतनी भयावह होती हैं (खासतौर पर बरसात के दिनों में) कि अधिकांश निवासियों का रोगग्रस्त होना स्वाभाविक होता है। ये 'स्लम्स', जिसे 'स्लमडॉगमिलिनेयर' जैसी फिल्म ने ग्लेमराइज कर दिया है, दुनिया के करीब–करीब सभी शहरों के मुंह पर कलंक की तरह है–एक अनिवार्य कलंक जिसे समृद्धतम राज्य संयुक्त राज्य अमेरिका के वाशिंगटन और न्यूयॉर्क भी नहीं मिटा सके हैं। वहाँ तो स्थित है दुनिया का सबसे कुख्यात स्लम 'हारलेम' जिसे अपराधों की राजधानी की तरह पेश किया जाता है।

शहरीकरण की एक और बड़ी कीमत है 'अजनबियत' (Alienation) यह मानव सभ्यता का वह रोग है जिससे अधिकांश मानवता ग्रस्त है। इस मनोवैज्ञानिक रोग का कारण वे भौतिक स्थितियां–परिस्थितियां हैं जो मनुष्य को उसके काम से, उसके परिवेश से और उसके संबंधों से तोड़कर रख देती हैं। वह भीड़ में भी अकेला हो जाता है। वह न अपने को जान–समझ पाता हैं और न ही अपनों की। उसकी अन्यमस्कता और परायापन घुन की तरह उसे चाटते रहते हैं। सब कुछ होते हुए भी वह अपने को उपेक्षित और वंचित मानता हैं। सभी अपने–अपने अजनबी होते चले जाते हैं। शहर इस बैक्टीरिया के पनपने के लिए सबसे अनुकूल जमीन होते हैं, क्योकि वहां परायापन पसरा रहता है। कोई किसी का नहीं होता। इसलिए शहरीकरण के कारण शारीरिक रोग ही नहीं मनोरोग भी बढ़ते जा रहे हैं।

शहरीकरण के लाभ एवं हानीयॉ–

अपने वर्तमान रूप में शहरीकरण रोका नहीं जा सकता। इसलिए फिलहाल तो वह अनिवार्य ही लगता है और उसका बुराई वाला पक्ष ही इस समय सबसे अधिक उजागर

होता जा रहा है। शहर सब कुछ मुहैया कराने का दावा करते हैं पर शहर वही नहीं दे पाते जो मनुष्य के लिए सबसे अधिक अनिवार्य, या कहें प्राणदायी है–शुद्ध वायु और शुद्धजल। इसीलिए 'शहरीकरण' 'रोगीकरण' का दूसरा नाम होता जा रहा है।

दूसरी और यदि शहरीकरण के मर्म को समझ कर स्थूलता को नकारा जाए और सूक्ष्मता को अपनाया जाए। उदाहरण के लिए शहरीकरण में जनसंख्या का अनियंत्रित हो जाना अनिवार्य नहीं। आज शहरीकरण में पुराने शहर करोड़ की संख्या पार करने में लगे है और 'मेट्रोपोलिस–मेगापोलिस बनने की होड़ लगी हुई है। निश्चित ही ऐसे 'केंद्रीकरण' को रोकना अनिवार्य हो गया है। शहरीकरण का आधारभूत तत्व यदि सुविधाओं, संचार और परिवहन की उपलब्धता को मान लिया जाए तो टेक्नोलॉजी ने इस समस्या का समाधान कर दिया है और दूर–दूर से भी संवाद और संचालन संभव है। शहरीकरण का आज तक का सबसे उजागर पक्ष 'बुराई' है। पर उसका एक पक्ष अच्छाई का भी है। शहरीकरण में सभ्यता की उपलब्धियों को उपलब्ध कराने की वृत्ति काम करती है। इसका वाहक 'बाजार' बन जाता है। परन्तु यदि कोई वास्तविक जनतंत्र हो तो वह बाजार पर अंकुश रख सकता है और शहर हर नागरिक के घर इक्सीसवीं सदी को पहुंचा सकता है चाहे वह कहीं भी रहता हो।

शहरीकरण जिस ऊब, अजनबियत और रोगग्रस्त आत्मकेंद्रितता को बड़ा रहा है, उस खतरे से बचने के सतही उपाय हो रहे हैं। वैसा ही शहरों में घर में कुछ गमले और ड्राइंग रूम में मनी प्लांट टांग कर शहर का सामान्य मध्य वर्गीय आदमी प्रकृति प्रेम के मुगालते में जीने लगता है। विडंबना यह है कि शहरों में ही सत्ता के केन्द्र होते हैं और राजनेता, शासक, विद्वान, बुद्धिजीवी, कलाकार और साहित्यकार आदि यानी वे सभी लोग और समुदाय जो कुछ और कर सकते हैं, शहर में ही रहते हैं। पर शहर ही सभी तरह के प्रदूषणों के शिकार होते जा रहे हैं। शहरों में ही सभ्यता का जो भी सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष हैं उसका संकेन्द्रण होता है। अब नकारात्मकता, सकारात्मकता पर भारी पड़ती जा रही है।

इसलिए शहरीकरण अब घातक दौर में पहुंच गया है। देश की राजधानी को ही देख लें। दिल्ली दुनिया के सबसे प्रदूषित शहरों में से एक है। यहां पवित्र मानी जाने वाली कृष्ण प्यारी 'यमुना' एक नाला बन कर रह गई है। आबादी के बहुत बड़े हिस्से को रोटी, कपड़ा और मकान' और शुद्ध हवा और पानी भी उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। लोग

तिल–तिल कर मर रहे हैं। तात्कालिकता, संकीर्णता और पिछड़ेपन के शिकार आम लोग ही नहीं, प्रबुद्ध और शक्तिशाली लोग भी हैं। इसीलिए समस्या की भयावहता के प्रति लोग सचेत नहीं लग रहे हैं।

समाजशास्त्रियों का आकलन है कि इसी शताब्दी में सारे संसार का करीब–करीब शहरीकरण हो चुका होगा। आज की दुनिया को 'ग्लोबल विलेज' कहा जाने लगा है। यह एक अतिरेक है और आज संचार के साधनों के विस्तार की सच्चाई को काव्यात्मक व्यंजना में कहा गया है पर शीघ्र ही दुनिया में एक 'ग्लोबलाइज्ड मेट्रोपोलिस' (भूमंडलीकृत महानगर) जरूर होने जा रही है। अभी तो 'पानी की बोतल' ही मजबूरी बनती जा रही है आगे चलकर 'ऑक्सीजन की बोतल' अनिवार्य हो सकती है। गांव कविता और संग्रहालय तक सीमित न हो जाए इसलिए शहरीकरण पर अंकुश लगाना अनिवार्य हो गया है वर्ना ऐसा भी हो सकता है कि यह समस्या प्वॉइंट ऑफ नो रिटर्न हो जाए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

01. Kundu, A.(1994): Pattern of Urbanisation with Special Reference to Small and Medium Towns in India in Chadha, G. K., *Sectoral Issues in the Indian Economy*, Har-Anand Publications, New Delhi.

02. Kundu, A, N. Sarangi and B.P Dash (2003): Rural Non-farm Employment: An Analysis of Rural Urban Interdependences, *Working Paper no. 196*, Overseas Development Institute, and London.

03. Bhagat, R.B. (1992): Components of Urban Growth in India with Reference to Haryana: Findings from Recent Censuses Nagarlok, vol. 25, no.3, pp.10-14 (accessed atwww.archive-iussp.org/Brazil2001/s80/S83_03_Bhagat.pdf).

04. Brockerhoff, M. (1999): Urban Growth in Developing Countries: A review of Projections and Predictions, *Population and Development Review*, vol. 25. No.4, pp. 757-778 (accessed atbooks.google.co.in/books?isbn=8180692957).

05. Brockerhoff, M. and Brennam, E (1998): The poverty of cities in Developing Regions, *Populations and Development Review*, vol. 24, no. 1, pp. 75-114 (accessed at http://gestionintegrada.ieut.cl/wp-content/uploads/2009/09/Poverty-Developing-Countries-Edmundo-Werna.pdf).

06. Davis Kingsley (1962): Urbanisation in India–Past and Future, in Turner, R. (ed.) *India's Urban Future*, University of California Press, Berkley.

07. Davis, K. (1965): The Urbanization of the Human Population, *Scientific American*, 213(3), March' 1965, pp. 41-53.

08. Mukherjee, S. (2001): The nature of migration and urbanization in India: the search for alternative planning strategies, in *Dynamics of Population and Family Welfare*, K. Srinivasan and K.B Pathak (eds.), Bombay, Himalaya Publishing, pp. 203-49.

09. Nayak, P.R (1962): The Challenge of Urban Growth to Indian Local Government in Tumer. R (eds.) *India's Urban Future*, University of California Press, USA.

10. Premi, Mahendra K. (1991): India's Population: Heading Towards a Billion-An Analysis of 1991 Census, *B.R Publishing Corporation*, New Delhi.

Tribal Women Entrepreneurs and "MAKE IN INDIA"

Dr. Rajendra singh Waghela
Prof. of Commerce
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore (M.P.)

Abstract

In every sector development is important for the achievement of objectives such as growth with equality. Entrepreneurship development among woman is an essential broader development. Several studies imply that many women entrepreneurs are facing difficult situations when compared to their male counterparts. Factors like business environment, political instability, poor infrastructure; high production costs and affects women entrepreneurs more than men. Limited access to key resources like land and credit, legal and socio-cultural environment also act as serious limitations. In the era of globalization changing pattern of business and evolving technologies necessitate skill enhancement that many entrepreneurs in the continent are yet to possess. This paper presents a brief view of the role of women entrepreneurs in the Make in India.

Keywords: Make in India, women entrepreneurs, growth, infrastructure, production.

Introduction

Human physical and financial resources are determined Economic growth and development of any country. An economy can move on to higher levels of growth of the factors of production or through technical progress. The purpose of any planned growth is to develop human and natural resources to their brimming utilization. Therefore, industrialization is one of the ways of bringing about socio-economic development in any country. The economic development of a nation is sparked largely by its enterprising spirit. The characteristic of enterprising emerges from the inter play of behavior and activity of special segment of the population known as entrepreneurs. For example, India's economy is today poised for a flourishing entrepreneurial activity. It is also known that a healthy business environment is an essential requirement for entrepreneurial growth.

Need for women entrepreneurship

Entrepreneurs have played and playing a crucial role in the socio-economic development of tribal areas. According to Gunderson-"Not resources, not protestant ethic but entrepreneurship explains economic growth", The availability of entrepreneurial skills is an vital assets and an instrument for economic growth.

Entrepreneurship among women in the tribal economic, is significant on the following grounds -

(a) Proper utilization of available human resources.

(b) It promotes equal opportunities and human dignity.

(c) It makes women economically self dependent and provides for new challenges for self-fulfillment.

(d) It provide more status and respect in the society and raises self confidence.

(e) It accelerates the pace of tiny, collage and small industries development.

(f) It brings special qualities in women such as innovative approach, dedication, risk taking and patience in the work place.

Characteristics of tribal women entrepreneurs

Today women have made their mark in different walk of life and are completing successfully despite the social economic and psychological differences. Women have a strong potential in various aspects of economic growth in tribal areas. The researchers found the following characteristics by staying in tribal areas for a long time and by interacting with them from time to time -

1) Tribal women like to work in groups and also like to move together.
2) They have strong organizational skills.
3) They have physical stamina, therefore they can work for longer time.
4) Tribal women are usually risk takers and handling the economic uncertainties.
5) They think of their daily need. Therefore they sell their goods even at lower price.

Objectives

1) To study the contribution women entrepreneurs in organizational growth.
2) How do them their work effectively.

3) Which can be the possible changes require to enhance their presence in organization.
4) Which are the essential steps should be taken by government for women entrepreneurs.

Women Entrepreneurs

Women entrepreneurship has long been associated with concepts such as women empowerment and emancipation. Increasingly, it has also been marketed as crucial for increasing the quality of life of women in the developing world. Further, it has also been encouraged as way of making changes to the status-quo of women in the Muslim world and re-addressing the balance of power within the family unit. The benefits of women entrepreneurship are many and varied and have been researched in great detail in the past. The purpose of this research is to facilitate a discussion on how best to empower women using entrepreneurship. This will in turn help in the marketing of entrepreneurship as a tool for the female empowerment and emancipation. Women constitute almost 50 per cent of the world population. So the socio-economic participation of women at the international, regional, national and local levels means using significant potential resources more effectively. Moreover, it is noticeable that entrepreneurship development and empowerment are complementary to each other. Women empowerment depends on taking part in various development activities. In other words, the involvement of women in various entrepreneurial activities has empowered them in social, economic, culture and other related fields. It can be understood that women entrepreneurs have been making significant impact in all segments of the economy in the developed countries like Canada, United kingdom, Germany, Australia and the united states, etc. Over the past two decades, women entrepreneurs have come to be recognized for their significant contributions to socio-economic development of their respective countries.

Women tend to focus on business that is a continuation of their domestic roles, such as the service sector. The potential for the growth of women's enterprises is said to below and is driven less by entrepreneurial drive than the need for survival. Women comprise 74 percent of those employed in the micro enterprises sector. More than 65

per cent of all women in cottage\handicraft industries (micro enterprise) were engaged in processing food products and beverages.

Economic contribution

Women's economic activities contribute directly to growth and efficiency in dealing with informal business problems and poverty reduction is one of the main issues for policy makers

i) Capital formation:

ii) Improvement in Per capita Income: women.

iii) Generation of employment: Women

Social Contribution

Women entrepreneurs are also contributing towards improving the balanced regional development and improvement of living standards in the country.

i) Balanced Regional Development:
ii) Improvement in living standards:
iii) Innovation:

Women entrepreneurs need to be better organized in to women entrepreneurs Association which help identify higher potential business opportunities, develop markets for their products, improve product quality and marketing skills, practice good financial management and secure better premises.

Women entrepreneurs- the key drivers of "Make in India"

Over the years, Indian women have made a substantial impact and achieved success across sectors. Both within the country and Overseas Women play a crucial role in the growth of the economy. Today, India boasts nearly 1.4 million women panchayat leaders – a number that is an indicator of the leadership roles women are increasingly taking up. In India, the manufacturing sector employs 20% of the total workforce, much lesser than a number of Asian countries. Though women are under-represented in this sector, there are a range of companies that have set an example for others to follow.

Internet and Women

In India, over 110 million women are active users of internet and growing at a rate of 46% for females, according to a report by Internet and Mobile Association of India and IMRB International.[5]

Urban India isn't just witnessing women's contribution to social change, health care and education. There are a considerable number of initiatives undertaken by rural women at the grass root level too in spreading awareness for gender equality.

Women village-level entrepreneurs run a range of Common Service Centres in India. Vaijanti Devi, who hails from Bihar, runs one such centre and offers online banking services and enrolls villagers for the Aadhar programme.

The Ministry of Women and Child Development introduced the 'Support to Training and Employment Programme for Women (STEP)' scheme to provide employment to women. Under this scheme, women above 16 years of age are provided training to help them become self-employed. The sectors covered under this programme include Agriculture, Food Processing, Handlooms, Handicrafts and Computers, among others.

Women's Vocational Training Programme

The Women's Vocational Training Programmed was introduced in 1977 by the Ministry of Labour and Employment. The programmed attempts to promote the employment of women in industries (mainly the organized sector). As part of this programmed, women are trained under the Craftsmen Training Scheme and Craft Instructors Training Scheme.

Digital India

Digital India aims to transform India into a digitally empowered society and knowledge economy. A beginning has already been achieved, with the first Women Village Level Entrepreneur Conference that was held in March 2015.

Other programmes include Arogya Sakhi, which is a mobile application that assists women entrepreneurs to deliver preventive health care at the doorstep. Similarly, Internet Saathi aims to deploy 1,000 specially-designed bicycles with connected devices to give women a chance to experience the Internet for four to six months.

Start Up and Stand Up India

Both the Start Up and Stand Up India initiatives empower women entrepreneurs and provide financial assistance to those who are setting up their businesses. The programmed also aid those who have already established their business but fall under the startup category. Through these schemes, the government aims to turn women from job-seekers to job-creators.

The Future ahead

With the power of digital technology and growing opportunities, there is a revolution in the way women are doing business. Some of them are already running successful enterprises, and many more are joining the bandwagon. For 'Make in India' to grow even further, women should be considered and promoted as key drivers.

Suggestion

1. Women entrepreneurs should be provided with achievement motivation training and promotional support.
2. Marketing intelligence should be made available to women entrepreneurs.
3. The development of infrastructure in tribal areas such as road, communication, electricity etc. will promote for women entrepreneurs.
4. To provide more practical knowledge for improving the operation efficiency of women entrepreneurs.
5. To secure concession, subsidies and more assistance to women entrepreneurs.
6. To create environment for development of self confidence and hope among women entrepreneurs.

Conclusion

The study reveals that there is a vast sense of women entrepreneurship development in tribal areas. It is also observed that socio-economic environment of tribals and the opportunities available in the tribal area also influence women entrepreneurship significantly. There is a need for three tier efforts for the development of women entrepreneurs in tribal areas first to create entrepreneurs environment including safety sense among women in tribal area, second changing social attitude towards women and third, to provide proper infrastructure in tribal area.

Reference

01. Naik Sumangala (2009) Need for developing rural women entrepreneurs, Rural entrepreneurial and employment, Indus valley publication PP 122-128.
02. Jayanti, C (2009), Rural women entrepreneurs in the new wave economic development, Indus valley publication PP 118.
03. Verma SB, Singh Mahendra (2009) Rural women entrepreneurs, Indus valley publication PP 117.

Feminist Science Fictions : An Overview

Dr. Roshan Benjamin Khan
Professor in English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore (M.P.)

Margaret Atwood's evergreen dystopian novel *The Handmaid's Tale* is about to become a television drama. Published in 1985, it couldn't feel more fresh or more timely, dealing as it does with reproductive rights, with the sudden accession to power of a theocracy in the United States, with the demonisation of imagined, pantomime villain "Islamic fanatics". But then, feminist science fiction does tend to feel fresh – its authors have a habit of looking beyond their particular historical moment, analysing the root causes, suggesting how they might be, if not solved, then at least changed.

Where does the story of feminist science fiction begin? There are so many possible starting points: Margaret Cavendish's 1666 book *The Blazing World*, about an empress of a utopian skingdom; one could point convincingly to Mary Shelley's *Frankenstei*n as an exploration of how men could "give birth" and what might happen if they did; one could recall the 1905 story *Sultana's Dream* by Begum Rokeya, about a gender-reversed India in which it's the men who are kept in purdah.

And perhaps one of the starting points was here: on 29 August 1911, a 50-year-old man, a member of the Yahi group of the Native American Yana people, walked out of the forest near Oroville, California, and was captured by the local sheriff. He was known at the time and popularised in the press as "the last wild Indian".

He called himself "Ishi" – a word in the Yahi language that means simply "man". He was the very last of his people, and had been living in the wilderness alone, travelling to places he remembered from the time when his tribe had flourished, in the hope of finding some remnant of those he'd grown up with. When

he realised they were truly all gone, when a series of forest fires meant he was close to starvation, he allowed himself to be found and taken in.

Knowing that he was the last surviving Yahi, Ishi was desperate to communicate some of the culture that would be entirely lost when he was gone. He ended up living with the director of the museum of anthropology at the University of California, Alfred Kroeber. He taught Kroeber as much as he could: demonstrated the skills of flint-knapping, explained his language, told the stories of his people one last time so they could be written down and preserved. He was particularly fond of children, Kroeber recorded. Ishi died in 1916, of tuberculosis. After his death, Alfred's wife, Theodora, wrote a remarkable book about him, Ishi in Two Worlds, which relays as much of the Yahi culture as the anthropologists were able to record, and talks about Ishi's own accounts of his life. To read it is to touch an intricate and beautiful civilisation that is now entirely gone, a place that can only be momentarily resurrected by an imaginative act, as unreachable as an alien world.

And the link with feminist science fiction? Theodora and Alfred Kroeber's daughter was Ursula Le Guin, the science fiction author. Her novel *The Left Hand of Darkness* was published in 1969, at the start of the revolutionary women's movement, and was one of the earliest pieces of feminist SF. It is about a man from Earth who travels to the planet Gethen, where the people have no fixed gender. He is by turns fascinated, appalled and deeply, sickeningly lonely. Everyone's "normality" is someone else's wilderness.

The association between some writers of feminist science fiction and the wilderness is surprisingly strong, in fact. Atwood grew up spending a large portion of each year in the Quebec woods. Her father was an entomologist – an insect man with a specialism in the solitary bee – who worked on ways to protect the Canadian forest industry from insect damage. Atwood's early life included springs, summers and early autumns in a log cabin in the woods with no electricity, paddling canoes across clear forest lakes and cooking on an open fire. Alice Sheldon – who wrote under the pen name James Tiptree Jr, and after whom the James Tiptree Jr award for science fiction or fantasy explorations of gender is named – travelled extensively as a

child among African peoples including the Kikuyu. Her parents were Herbert, an explorer, and Mary, a travel writer and war correspondent.

What makes Atwood's novel so terrifying is that it's all plausible. In fact, everything has happened some-where before Of course, not every author of feminist science fiction was taught how to make a fire in the wilderness by her (or his) parents. But what interests me, and what links these stories, I think, is the sense of young people having been exposed early on to the idea that there are other ways of living which are equally valid, equally worthy of respect, equally troubling and equally beautiful. That other cultures and modes of existence make sense on their own terms. That however you've grown up, it would always be possible to do things differently. And having seen that, one can't help reflecting on what the world would be like if we did decide to do things radically differently. Feminist – or let's say gender-questioning – science fiction asks insistently, through careful construction of different societies, how much of what we think now, today, in generic western culture about men and women is innate in the human species and how much is just invented. And if we've invented it then could we, for better or worse, invent it differently?

The answers are often dystopian. *The Handmaid's Tale* is probably the most famous work of feminist speculative fiction ever published; certainly it's one with a huge and appreciative audience outside the borders of the "genre" science fiction and fantasy readership. It takes place in Gilead, a fundamentalist theocratic state in New England in which a Christian sect, "the Sons of Jacob", has taken control. There's been a precipitous decline in the birth rate, and the state has reverted to the biblical model of reproduction: powerful men have fertile young "handmaids" to bear children who will then belong to them and their wives. The novel follows one such handmaid, Offred – a name that sounds appealingly Anglo-Saxon until you realise it means "Of Fred", Fred being the man who owns her. I read the novel as a teenager and realised very suddenly and certainly that if I were ever to get married I couldn't possibly change my name, that I would never be able to hear it as anything but "Offred" from then on.

What makes *The Handmaid's Tale* so terrifying is that everything that happens in it is plausible. In fact, everything – like the stratagem of the handmaids – has happened somewhere before. Everything in it has been praised by someone as the right, the good, the best, the only way to live. And Atwood had a horrifyingly prescient eye for how a state like Gilead could come to exist: "… after the catastrophe, when they shot the president and machine-gunned the Congress and the army declared a state of emergency. They blamed it on the Islamic fanatics, at the time … Newspapers were censored and some were closed down, for security reasons they said. The road-blocks began to appear, and Identipasses. Everyone approved of that, since it was obvious you couldn't be too careful." Eventually, women's bank accounts are frozen, taken away from them, women are fired from their jobs. It happens step by step. How do you boil a frog? You turn the heat up slowly.

The politics of fear are always the same. They are easily recognisable in retrospect. They are easy to acquiesce in at the time. On the day of Donald Trump's inauguration, one popular placard read "Make Margaret Atwood Fiction Again". There's no gain the women's movement has made that can't be taken away – a fact that will sound terrifying to some and a gleeful plan of action to others.

Writers of feminist dystopian fiction are alert to the realities that grind down women's lives, that make the unthinkable suddenly thinkable. In Joanna Russ's novel The Female Man, four women from four parallel worlds meet, travelling from world to world to see how their lives could have been different under a different system. The most sexist of all the realities she explores is also the one that is most economically depressed. It's Jeannine, the woman from the world where the Depression never ended, who is so ground down that she barely believes she can exist without finding a man to marry her. Economic downturns make vulnerable people more vulnerable – and societies in trouble tend to retreat to an imagined past of certainty and stability. To put it another way: justice feels affordable in times of plenty, and starts to feel like a luxury in times of want. But anarchy can lead to new opportunities. In Octavia Butler's Parable of the Sower, in which a young woman with "hyperempathy" founds a new religious order, people are hungry for change

because the old ways haven't worked, the US is plagued by deadly weather patterns that kill hundreds, and civilisation has collapsed to the point that it's "crazy to live without a wall to protect you". Feminist science fiction does have a way of finding resonances in the modern world.

Utopias and dystopias can exist side by side. Everyone's shining city on a hill is someone else's hell on earth Marge Piercy's 1976 novel *Woman on the Edge of Time* offers another two possible futures, one utopian, one dystopian. Connie Ramos has been released from a mental hospital; she's seeing visions of the future, which might be real or might be delusional. In one future, the human race has somehow managed to come to its senses about all kinds of prejudice, learning how to value the rich diversity of life – gay and straight, male and female, all ethnicities and physical characteristics. As one character says, when discussing valuing one trait over another in reproduction: "It's one choice to breed carrots for our uses – especially leaving wild and variant gene pools intact. Is another to breed ourselves for some uses or imagined uses! For all we know, a new ice age comes and we might better breed for furriness than mathematical ability!" It's a pointed lesson when contrasted with Connie's visions of a dystopian future, where women are "cosmetically fixed for sex use", and people boast about which multinational corporation owns them. The astonishing thing about considering Woman on the Edge of Time now is how we've inched closer to both her worlds in the 40 years since the novel was published. Yes, you can get cosmetic "fillers" on any high street. Yes, corporations continue to grow in power as if they were living things, merging and combining abilities. And at the same time it also doesn't feel astonishing to read a scene of two men flirting and dancing together as it might have done in 1976. Utopias and dystopias can exist side by side, even in the same moment. Which one you're in depends entirely on your point of view.

'Is my novel dystopian? Only if you're a man' says Naomi Alderman in latest novel, *The Power*, which has been described as a dystopian thriller. In it, almost all the women in the world suddenly develop the power to electrocute people at will and they use their power, slowly but surely, just as men do in our world today. Some of them are kind and some cruel. Some rape and some just have a jolly good

time in bed with willing participants. Nothing happens to men in the novel – I explain carefully to interviewers – that is not happening to a woman in our world today. So is it dystopian? Well. Only if you're a man.

That answer's too simple, of course. It's pat, and gets a laugh from an audience, but the relationship between our world and utopias or dystopias of all stripes is a complicated one. Can we make a perfect state, where everyone is happy and agrees that things are being run in the best of all possible ways? Equally, could we create a place that everyone would agree is evil and morally bankrupt? We're a diverse bunch, human beings. Which helps explain that thing you cannot do for all of the people all of the time.

Margaret Atwood: 'All dystopias are telling you is to make sure you've got a lot of canned goods and a gun' Le Guin has a beautiful long short story called *The Matter of Seggri* and it draws – as so much of her work does – on her deep sympathy with the position of the anthropologist, there to observe and understand, not judge and solve. Seggri is an alien world; it's so much easier to do thought experiments about an alien world, it's clean and isolates precisely the problem you want to talk about. Human beings on Seggri are born physically just like human beings are here, with only one significant difference: "there are 16 adult women for every adult man. One conception in six or so is male, but a lot of non-viable male foetuses and defective male births bring it down to one in 16 by puberty." And this tweak changes everything. Women on Seggri marry each other – you can't hoard the men for just one woman. Instead the men live in protected areas and do athletics to show off their muscles. "All they're allowed to do … is compete at games and sports … Nothing else. No options. No trades. No skills of making. They aren't allowed into the colleges to gain any kind of freedom of mind." People on Seggri say: "Men have to be sheltered from education for their own good." Meanwhile, women set up home together, pursue their interests and hire a man occasionally for fun or to father a child. As one anthropologist character observes of Seggri: "Men have all the privilege and women have all the power."

What I love about this story is how clear-eyed it is that all societies – at least all thus far constructed – leave something out. At a certain point in the story, one

woman grieves over the curious behaviour of a boy who had fallen in love with her and wanted to be free to live only with her. "She thought, 'My life is wrong.' But she did not know how to make it right." It's a heartbreaking moment. So often when one's life seems wrong, it's the world that is wrong. But we do not know how to make it right.

Which brings us back to Ishi. He knew in 1911 that all his people were dead, that he would starve if he did not surrender himself to the alien force that had destroyed his family and laid waste his land. But 1911 was not a terrible year for everyone. The New York Public Library was opened that year, Orville Wright set a new world record for glider flight, and Ronald Reagan was born – that was probably nice for his parents at least.

Reagan famously described his vision of an America that would be a "shining city upon a hill" – a beacon of light and hope, a place that could show the world how to be better, an inspiration to all. A utopia. So let's put those two things side by side and regard them for a moment. Reagan is a baby in the cradle, Ishi is in the forest, accepting that the Yahi people are gone forever, wiped out by the settlers. Everyone's shining city on a hill is someone else's hell on earth.

Every utopia contains a dystopia. Every dystopia contains a utopia. The conclusion I've come to through extensive speculative fiction voyaging is that the best we can hope for, probably, is to create a society that tries hard not to leave people out. And to be vigilantly alert to the people we are leaving out, whoever they are. To listen. To try to make it right as often as we can. To imagine how it could be different. And as to whether The Power is a dystopia? Well, as nothing happens to a man in it that's not happening to a woman right now, if my novel is a dystopia, we're living in a dystopia today.

REFERENCE

01. *The Handmaid's Tale* will be broadcast in April 2017.

02. Naomi Alderman's *The Power* is published by Viking.

Can English Be Fixed?

Dr. Renu Sinha
Asst. Professor in English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore (M.P.)

Since Jonathan Swift's 1712 Proposal for Correcting, Improving and Ascertaining the English Tongue, two centuries of self-appointed correctors and improvers of English usage - such as Robert Lowth, HW Fowler, George Orwell, Kingsley Amis, Simon Heffer, Lynne Truss, and Neville Gwynne - have decried the decadent state of our language and instructed people on how to use it better. But what have they accomplished?

They have helped enforce agreement that there should be a standard version of the language. They have not, however, managed to set the exact details of that standard. They have not even agreed whether long words or short ones are better (in spite of some vehement pronouncements on the subject). And the stream of the language has flowed on despite the damning practices prescribed by grammar doctors in the 1700s and 1800s that often look old-fashioned or bizarre now : no one writes *snatcht, checkt,* or *snapt* : no one uses colons as I am doing in this sentence.

Generations have learned that 'bad English' is a failure of intellectual and moral fibre

The language cannot be fixed in place, and its constant evolution does not always follow the tastes of its self-appointed guardians. Some of their proposed improvements have had inglorious careers: a rule - don't split infinitives, don't end sentences with prepositions, don't start sentences with conjunctions - is decided in defiance of established usage. It is promulgated in books, taught in schools, and often used as an indicator of a writer's level of education, yet it continues to be broken - productively by some (including many of the best writers), sloppily by others, guiltily by many.

It is at last declared not to be a real rule by authoritative guides in the later 20th Century, and yet it is still propounded by a small but truculent segment of society, who have unpleasant things to say about those who dare break it. On the other hand,

some words that English-defenders indignantly opposed have blithely prevailed: bureaucracy, racial, electrocute telegram, antagonise pants, jeopardise, donate, and scores of others.

One important effect the English-improvers have had, however, is on how people feel and talk about English usage. They have taught generations of English speakers that 'bad English' is a failure of intellectual and moral fibre. Consider the adjectives they have used to condemn choices of words they disagreed with.

Jonathan Swift, in 1712, talked of "Corruptions," "Licentiousness," and "barren" usages; Robert Lowth, in 1799, applied terms such as "perverted" and "barbarous"; Richard Grant White, in 1872, used phrases such as "utterly abominable", "foolish and intolerable", and said they showed "utter want of education and a low grade of intelligence" (and these against words such as donate, jeopardise, and preventative). HW Fowler in 1908 spoke of "barbaric" usages, and the "special ugliness" that comes from a word with a "mongrel origin", and counselled readers that "The effect of using quotation marks with slang is merely to convert a mental into a moral weakness." George Orwell in 1946 inveighed against "slovenliness" and "sheer incompetence."

'Linguistic insecurities'

In more recent years, writers guilty of some well-established word choices and writing habits have been called "slovenly" by Kingsley Amis; "abominable," and "semi-literates" by Simon Heffer; "illiterate" by Neville Gwynne; and "moral weaklings" by Lynne Truss. These are terms fit for war crimes or animal cruelty, but they are applied to turns of phrase that are endorsed, or at least allowed, by the Chicago Manual of Style, The New Fowler's Modern English Usage, The New York Public Library Writer's Guide to Style and Usage, Merriam-Webster, and the Associated Press Stylebook, all of which manage to make prescriptions without casting aspersions on the moral and intellectual character of those who do not heed them.

Their ideal is a person of careful, vigorous thought, moral propriety, manly directness and the right sort of education

To be fair, these angry grammarians did not invent discrimination based on speech. Anywhere there are different varieties of a language associated with different regions and different social sets, the way you talk will show what group you belong to, and people will decide on that basis how to treat you. What these umpires of the English language have enabled and abetted is scorn based purely on details of the language itself rather than on extrinsic social differences.

There is a classism in it, but their ideal is not a nobleman (they often criticise errors in the speech of the high and mighty) but a person of careful, vigorous thought, moral propriety, manly directness, and the right sort of education, as evinced unfailingly by avoidance of specified vulgarisms and barbarisms. They despise stupidity and low character, but they enfranchise their pupils to identify these not by the content of what is said but by a few simplistic rules of form: a belt of scorn grenades.

Those who take up these weapons often use them viciously. In his recent book Bad English, the language scholar Ammon Shea has collected some striking examples. One George Quinn, in a 2004 letter to the Providence Journal newspaper, said that a particular writer who started a sentence with a conjunction should have been "appropriately beaten in grammar class". The poet Phyllis McGinley said the sentence adverb 'hopefully' "is an abomination and its adherents should be lynched". Jack Knox, a columnist for the Prince George Citizen, advocated capital punishment for anyone who used 'gift' as a verb. An executive at Western Union once wrote that whoever first used 'contact' as a verb "should have been destroyed in early childhood."

Those who speak in strong terms about ill-favoured usages naturally defend their passion: "I frequently hear people pointedly aver that they 'care about language,'" Shea writes, "which to me is simply a polite way of saying 'I like to correct the language use of other people.' We all scare about language, some of us more than others, but the degree to which one is willing to humiliate or upbraid others should not stand as an indication of how much one cares."

The giveaway is that the focal usages are not ones that truly manifest incompetence, such as "I are come" or "Do like this speak not." They are words and

turns of phrase that are used all the time by well-educated, fluent speakers, including many who are well respected for their writing. This allows scolds to use them as true in-group markers. As Rebecca Gowers writes in Horrible Words, "The more arbitrary their dislike of a given word, the more honour they are likely to invest in insisting that it is incorrect, and possibly not a word at all."

It's easy to be drawn into this. The English language can be confusing. Thanks to its history, its spelling is capriciously inconsistent; thanks to the vast body of literature that has grown over the centuries of its evolution, its variations of form are manifest. And thanks to reformers who would "correct and improve" the language, there are things we are told we should do that we can plainly see most people don't do. To be an English speaker is unavoidably to have some degree of what William Labov called 'linguistic insecurity'. People whose English is farther from the promoted ideal are more insecure, but you will not find an English speaker who does not at least occasionally fret about whether he or she is committing an error. Even the sternest grammar cranks privately catch themselves out from time to time.

It's not so surprising that people over the centuries have wanted to tidy it all up. But attempts at improvement have not been unequivocally successful, to say the least, and the tone in which they have been presented has done further injury. It's bad enough that we have to worry about being clear and consistent; thanks to the weaponisation of English grammar and vocabulary, we also have to worry about being seen as degenerate barbarian imbeciles.

Essence of Hinduism: The Liberation Mantra

Dr. S. S. Thakur
Asst.Professor in English
Shri Atal Bihari Vajpayee
Govt. Arts and Commerce College,
Indore (M. P.)

Hinduism, also said to be '***Sanatana Dharma***', is the oldest living religion of the world. It is the richest religion with diverse philosophies, traditions and practices that have been followed by peoples of the Asiatic region for thousands of years. Now, it has become a global religion in a sense that the practitioners of this religion comprise of each and every continent of the earth, in considerable majority. Most of the Schools of Thought in the world have worked upon this religion and unanimously have come to more or less the same conclusion that Hinduism is the symbol of **"ONENESS AND PLURALISM"**, which in other words could be concluded as the '**ESSENCE**' of Hinduism.

Although there are some disputable opinions about its beginning in history, about its single founder, about its central religious establishment, or sole authoritative scripture, yet on the basis of two of its core beliefs, 'Oneness and Pluralism', it remains atop. "Vasudhaiva Kutumbakam", i.e. the whole universe is one family, is the very essence of Hinduism, which has been expressed in the ancient sanskrit hymns. It believes that no one is superior, none inferior. All are brothers marching forward to prosperity. Also it emphasizes on:

Om sarve bhavantu sukhinah. Sarve santu niraamayaah.
Sarve bhadraani pashyantu. Maa kaschid dukhbhaag bhavet.

which means, 'May all beings be happy. May all beings be healthy. May all beings experience prosperity. May none in the world suffer.

Through its philosophy of pluralism, the Hindu religion has been able to embrace the reality of diversity, understanding of equality and unity. Every being, with their varying likes and dislikes, their unique personalities, and their different cultures, not only connect with one another in their own unique ways, but connect with the Divine in their own individual ways. As such those who believe in God are

said to be 'Aastik' and those who don't 'Naastik'. Hinduism accepts both. Likewise, there are plenty of beliefs and dis-beliefs which have been equally accepted and welcomed by the religious practitioners. Some of them are as follows, which supposedly written by Francois Gautier, a French political & religious writer, a photographer and a journalist, who came to India in 1969 in his early age to make India as his workplace (Karma bhoomi).

- The one who wants to worship idols is said to be '*murti pujak*'. Yes, he is accepted wholeheartedly.
- Doesn't want to worship idols? No problem, he can focus on '*Nirguna Brahman'*.
- Someone who wants to criticize something in our religion, we welcome them, because *Nyaya, Tarka (Logic)* etc. are core Hindu schools.
- If someone wants to accept each and every belief, as it is, without any question, logic? Please go ahead, because we allow everybody liberty to do whatsoever.
- If somebody wants to start the journey by reading "*Bhagawadgeeta*", no problem, one can begin at any point of time with any scripture.
- Same is the case with "*Upanishads*", "*Puranas*" or "*Vedas*".
- If someone doesn't like to read the above scriptures or not able to, no problem, they could follow the *Bhakti tradition*, or *Bhakti devotion*.
- If you don't even like the idea of Bhakti devotion, not an issue, just go on doing the things (**KARMA**) in right way and be a '*Karmayogi*'.
- If someone wants to enjoy life without any botheration of religiosity, no problem at all. This is '*Charvaka Philosophy'*.
- If somebody wants to abstain from all the enjoyments of life and wants to find God, Jai Ho, be a *Saadhu*, an ascetic.
- If somebody doesn't like the concept of God, don't mind, he can just believe in only Nature because, trees are our friends and prakriti or nature is worthy of worship.
- If somebody wants to believe in **ONE GOD**, or Supreme Energy, very good, he or she can follow '*Advaita Philosophy*'.
- If you want a Guru, go ahead. Receive Gyaan or if you don't want a Guru, be happy and help yourself! Meditate! Study!

- If you believe in Female energy, *Shakti* is worshipped.
- If someone believes that every human being is equal, oh great, come on lets celebrate Hinduism as *'Vasudhaiva Kutumbakam'*.
- If you don't have time to celebrate any one festival, don't worry, one more festival is coming soon. There are multiple festivals every single day of the year.
- If you are a working personnel, don't have time for religious activities, its okay. You will still remain as a Hindu.
- If you like to go to temples, its too good, Devotion is loved. Even if you don't like to go to temples, no problem, still you are a Hindu.
- If you say that Hinduism is a way of life, with considerable freedom and liberty, Hey, you are absolutely right.
- If someone believes that everything has God in it, he/she is allowed to worship mother, father, guru, tree, river, the Earth or the Universe or even any Praani Maatra.
- And if someone argues that he/she doesn't believe that everything has God in it, no problem, we respect your viewpoint.
- "Sarve Jana Sukhino Bhavantu" (May you all live happily). You represent this! You are free to choose!

I do not exactly know that in what sense did Mr. Francois Gautier make a mention of above nonparallel remarks, but I strongly endorse those remarks as positive conclusions with utmost subjectivity and belief. Because this is exactly the essence of Hinduism, all inclusive. That is why it has withstood the test of time in spite of repeated onslaught both from within and outside, and assimilated every good aspects from everything. That is why Hinduism is eternal!!!

There is a saying in *Rigveda*, the first book ever known to manking which depicts the philosophy of Hinduism in a nutshell - "Ano bhadrah Krathavo Yanthu Vishwathah" - Let the knowledge come to us from every direction".

The World of Pluralism

Pluralism has contributed to the incredible spiritual and religious freedom one witnesses within Hinduism - in it many deity traditions, paths or yogas, schools of thoughts, saint traditions, ways of worship etc. The worldview of pluralism is not

just applicable to Hindus, but to all members of this universal family. Accordingly, Hinduism acknowledges not just the possibility, but also the existence of more than one path or way of relating to Truth (God). In relating to other religions, Hinduism asserts that it is not only harmful, but inherently flawed to insist that one's own path towards God is the only true and meaningful path. Based on this firm pluralistic belief, Hinduism has never sanctioned proselytization. It is also clear that, for centuries in Southeast Asia, it has been this Hindu brand of absolute pluralism, which has provided the ideal environment for peaceful coexistence and prosperity for at least eight major religions, including Hinduism, Buddhism, Judaism, Christianity, Islam, Sikhism, Jainism and Zoroastrian.

The Hindu Scriptures

Hinduism is rich in scriptures and includes an extensive collection of ancient religious writings. These sacred texts are classified broadly into two categories: *Shruti* and *Smriti*. The word *Shruti* literally means "heard" and consists of what Hindus believe to be eternal truths akin to natural law. These texts are revered as 'revealed' or divine in origin and are believed to contain the foundational truths of Hinduism. The second category scripture is *Smriti*, which lietrally means 'memory', and is distinguised from Shruti in terms of its origin. Teachings in Smriti texts are meant to be remind adherents and eternal truths of *Shruti*, and read and interpreted in light of changing circumstances over *kaala* (time), *desha* (land), and *guna* (personality).

Shruti

Some of the well known texts of this category include:

- **Vedas**: The word Veda means "knowledge". There are four Vedas, *Rig, Sama, Yajur and Atharva*, of which *Rig Veda* is the oldest.
- **Upanishads**: These texts, numbering over 100. contain an extensive exploration of the methods of understanding the self, God, and the nature of the world.

Smriti

- **Upavedas**: The Upaveds consist of four main texts, including, *Ayurveda* (the science of health and life), *Dhnurveda* (the science of warfare), *Gandharvaveda* (the study of aesthetics, and delineates are forms) and *Arthashastra* (guidance of

public administration, governance, economy, and politics).

- **Puranas**: Stories in the Puranas translate the meanings of the ancient Shruti scriptures and teach them to the masses by explaining the teachings of the Vedas and Upanishads through stories and parables. There are 18 major Puranas and many minor ones, upapuranas.
- **The Ramayana**: This is very popular epic tells the life story of the noble prince named Rama, whom Hindus believe to be an incarnation of the Divine.
- **The Mahabharata**: With over 100,000 verses, the Mahabharata is a historical epic, and is the longest poem the world has known.
- **The Bhagawad Gita**: The Bhagavad Gita is a primary scripture for Hindus. Although it is a tiny part of the Mahabharata and technically classed as a ***Smriti*** text, it is traditionally accorded the rank of an *Upanishad*.
- **Agama Shastras**: Ancient and numerous, including many that have been lost over the centuries, these texts deal with practical aspects of devotion and worship, including personal and temple rituals and practices.

Besides above Religious Scriptures and Texts, Hinduism remains as an inspiration for innovation and discovery. Hinduism has been a wellspring for vast contributions to global civilization spanning more than five millennia. As a religious practice aspiring to understand the eternal mysteries of existence, Hinduism has never been a regressive or closed dogma satisfied with historicentric interpretations of one holy book. In fact, Hindus have explored the mysteries of science, mathematics and astronomy to revel in the glory of Creation. Epochal advances in metallurgy, medicine, grammar, music and dance, among other disciplines, came from early practitioners of Hinduism. Some perennial contributions of Hinduism are; Education, Mathematics, Astronomy, Metallurgy, Medicine, Surgery, Literature, Arts, Yoga and Meditation etc.

The World of Openness

The country has to feel pride in openness, the diversity, the range, the lofty metaphysical aspirations of the Vedanta. We cherish the diversity, the lack of compulsion, and the richness of the various ways in which Hinduism is practised philosophically. It is also admirable that the civilizational heritage of tolerance that

made Hindu societies open their arms to people of every other faith, to come and practise their beliefs in peace amidst Hindus. It is remarkable that India is the only country on earth where the Jewish people have lived for centuries and never experienced a single episode of anti-Semitism. Finally, this is the Hinduism in which we gladly take pride.

References

01. *Hinduism Basics*, Hindu American Foundation (HAF)

02. *The Essence of Hinduism*, Islamic Research Foundation International, Inc.

03. https://francoisgautier.me/tag/hinduism

04. http://www.stateofformation.org/

मानवाधिकार एवं महिलाओं के अधिकार भारतीय संविधान के परिपेक्ष्य में

डॉ. संध्या गोयल
सहायक प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान)
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

वर्तमान आर्थिक उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के दौर में भारत में आए राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तन जैसे शिक्षा के प्रसार रोजगार के नये आयाम एवं अवसर सरकार की समतावादी नीति महिलाओं के अधिकारों व स्थिति में वृद्धि आदि ने यहाँ के सामाजिक एवं पारिवारिक परिवेश को प्रभावित किया है। परिवार के उच्च जीवन स्तर, उच्च शिक्षा एवं अपने जीवन यापन के लिये महिलाओं ने घर की चार दीवारी के बाहर कदम रखा एवं कार्यालयों, व्यवसायिक, प्रतिष्ठानों एवं शिक्षण संस्थानों में पुरूषों के साथ मिलकर काम करना शुरू किया। व स्त्री को निम्न स्तर पर भोग्या समझने वाला पुरूष अपने समान कार्य करते देख उसे सहन नहीं कर पाया जिससे व्यवस्था में दिक्कते आने लगी। कार्यालयों में कामकाजी महिलाओं के प्रति होने वाली अशोभनीयता को महिला उत्तपीड़न की संज्ञा दी गई।

हमारे देश का संविधान जहाँ पुरूषों के समान स्त्रियों को भी समान अधिकार का उपयोग करने की गारंटी देता है। वहाँ इस बात की संपुष्टि कर देता है कि स्त्रियाँ भी जीवन एवं स्वतंत्रता का अधिकार रखती हैं। उन्हें समान नागरिकों की हैसियत से जीवन जीने का अधिकार संविधान द्वारा प्रदान किया गया है। यही नहीं बल्कि स्त्रियों के आदर एवं गरिमा का न तो उल्लंघन किया जा सकता है और न ही उन्हें किसी भी दृष्टि से प्रभावित किया जा सकता है। क्योंकि उनके पास भी शांतिपूर्ण जीवन जीने का अधिकार सुरक्षित है। वास्तव में स्वतंत्रतापूर्वक जीवन का अधिकार उन्हें प्रकृति द्वारा प्रदान किया गया है जिससे समाज का सर्वांगीण विकास हो सके।

वास्तव में मानवाधिकार की अवधारणा का आशय मनुष्य के सर्वांगीण विकास से है। इस संबंध में वर्तमान समय में राज्य की भूमिका बहुत अहम मानी गई है। मानव समाज में कई तरह के विभेद मौजूद हैं। भाषा, रंग, मानसिक स्तर, प्रजातीय स्तर आदि। ऐसे तमाम

स्तरों पर मानव समाज में भेदभाव किया जाता रहा है। इस सबके बावजूद कुछ अनिवार्यताएँ सब समाजों में समान हैं। यही अनिवार्यता मानवाधिकार कहलाती है जो एक व्यक्ति को मानव होने के कारण मिलना चाहिए।

मानव अधिकारों में वे सभी अधिकार शामिल हैं, जिनका संबंध व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता व प्रतिष्ठ से है। मानव अधिकार आयोग की मान्यता है, कि मानव अधिकार स्त्री, पुरूष, बच्चे, बूढ़ों सभी के समान रूप से प्राप्त है। इन अधिकारों का हनन जाति, वर्ग, भाषा, धर्म, लिंग के आधार पर नहीं किया जा सकता। मानव अधिकार सभी के लिए जन्मजात व प्रकृति प्रदत्त है। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ ने महिलाओं व पुरूषों के समान अधिकारों की वकालत की है। संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर जो मानव जाति की गरिमा एवं योग्यता का उल्लेख करता है तो उसका संबंध अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए तथा पुरूषों एवं स्त्रियों के समान अधिकारों से होता है। साथ ही चार्टर स्त्रियों के अधिकारों के संरक्षण एवं अभिवृद्धि के लिए प्रावधान भी करता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संविधान द्वारा मानवाधिकारों की रक्षा हेतु निर्देशित किया गया है। तथा समयानुसार उनमें संशोधन कर उनमें सुधार की प्रक्रिया को भी अपनाया गया है। महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोग का गठन भी किया गया है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत प्रस्तावना मौलिक अधिकार एवं राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों के अन्तर्गत मानवाधिकारों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। साथ ही न्यायपालिका को उसके संरक्षण का अधिकार भी प्रदान किया गया है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्द ''हम भारत के लोग'' से ही पता चल जाता है कि संविधान की नजर में स्त्री व पुरूष समान हैं 'भारतीय संविधान में 'विधि के समक्ष समता के अधिकार' के अलावा विभिन्न अनुच्छेदों में ऐसे कई प्रावधान किए गए हैं जो महिलाओं के बहुमुखी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं और निभा रहे हैं। संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेदों में भी महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं।

''अनुच्छेद 15, धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग या जन्म के आधार पर विभेद का प्रतिरोध''

''अनुच्छेद 42'' काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबन्ध :–

राज्य काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए और प्रसूति सहायता के लिये उपबन्ध करेगा। जिस तरह संविधान की नजर में महिलायें व पुरूष समान हैं, उसी प्रकार महिलाओं के पक्ष में बने कानूनों में भी उन्हें पुरूषों के समान दर्जा दिलाकर उनके लिए समुचित न्याय का प्रबन्ध किया गया है। दहेज प्रतिषेध अधिनियम (1961), हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (1956), हिन्दू विवाह अधिनियम (1955), मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम (1936), हिन्दू अव्यस्कता एवं संरक्षता अधिनियम (1956), भारतीय साक्ष्य अधिनियम (1972), बाल विवाह निरोधक अधिनियम (1929), हिन्दू विवाह पुनर्विवाह अधिनियम (1956), एवं सती निवारक अधिनियम (1987), अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम (1956), गर्भावस्था समापन चिकित्सा अधिनियम (1971), चलचित्र अधिनियम (1953), महिला अशिष्ट (प्रतिबंध) अधिनियम (1986), विशेष विवाह अधिनियम (1954), कारखाना अधिनियम (1948), संशोधन–1976, अपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम (1986), मातृत्व लाभ अधिनियम (1961), घरेलू हिंसा अधिनियम (2005) आदि।''

अनेक कानूनों के बावजूद स्थिति यह है कि स्त्री आज भी दोयम दर्जे की नागरिक बनी हुई है। भारी भरकम कानूनों के होते हुए भी महिला मानवाधिकारों का हनन कर हर जगह देखने को मिलता है। ''मानवाधिकार स्त्री का अधिकार है'' इस नाम से जारी एमनेस्टी इंटरनेशन की 1995 की रिपोर्ट में ऐसी बेशुमार घटनाओं का दस्तावेज पेश किया है, जो स्त्री को मनुष्य कानने से इंकार करती है। भारत में अनेक संवैधानिक एवं कानूनी संरक्षण के बावजूद महिलाओं के मानवाधिकारों पर निरंतर कुठाराघात हो रहा है। इसका कारण अपने अधिकारों के प्रति महिलाओं का सजग न होना, उनमें जागरूकता की कमी मुख्य है। तथा कानूनी लड़ाई के दौरान विधानों का अप्रभावी होना है। इसके अतिरिक्त गरीब, पितृसत्रात्मक सामाजिक व्यवस्था, प्रथाएँ, परम्पराएँ भी महिला मानवाधिकार के हनन का कारण है।

टुवडर्स इक्वलिटी समिति ने इस संबंध में सुझाव दिया था कि इसका उपाय यही है कि प्रत्येक राजनीतिक दल महिला उम्मीदवारों का एक कोटा निर्धारित करें और जब तक ऐसा हो तब तक उपाय के तौर पर समिति ने नगर परिषदों और पंचायतों में महिलाओं के लिए सीटें आरक्षित करने के लिये संविधान में 73वें, 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से

ऐसा किया गया। गुलाब गैंक – गाँवों की महिलाओं के अधिकारों की रक्षा और उनके सशक्तिकरण के लिये सिर्फ बने इस समूह ने बुंदेलखण्ड के बांदा जिले के गुलाब गैंग को चर्चा में ला दिया। इस समूह ने गाँव की महिलाओं को न सिर्फ घरेलू हिंसा से मुक्त कराया बल्कि उनको संगठित कर एक शक्तिशाली आर्थिक ताकत में तब्दील कर दिया।

संदर्भ :–

01. अंसारी, एम.ए., 'राष्ट्रीय महिला आयोग और भारतीय नारी', ज्योति प्रकाशन, 2003
02. अवस्थी, सुधार – महिलाओं के प्रति अत्याचार एवं मानवाधिकार, अशोक लॉ हाऊस, नई दिल्ली, 2003
03. मेहता, चेतन – महिला एवं कानून, आशीष पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1996
04. विभिन्न पत्र–पत्रिकाएँ
05. विभिन्न शोध पत्र
06. इन्टरनेट वेबसाईट्स

निष्काम कर्म की अवधारणा तथा ओशो की विचारधारा

डॉ. प्रीति चौहान
अतिथि विद्वान – दर्शनशास्त्र
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

भूमिका

सम्पूर्ण गीता में कर्म को सबसे अत्यधिक महत्ता प्रदान की गई है। सम्पूर्ण गीता में विस्तार पूर्वक चारों मार्गों का वर्णन किया गया है – (1) ज्ञान योग (2) कर्म योग (3) भक्ति योग (4) योगदर्शन। इन्हें दर्शन में बहुत विस्तारपूर्वक समझाया गया है। हर मार्ग का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। सबका उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है, परन्तु एक स्थान (बिन्दु) पर सभी मार्ग मिलते हैं ओर अपनी उद्देश्य प्राप्ति में मुख्य भूमिका निभाते हैं।

कर्मयोग में निष्काम कर्म एवं स्थितप्रज्ञता – गीता का कर्मयोग मुख्यतः निष्काम कर्म तथा स्थितप्रज्ञता को मुख्य महत्व देता है। ''योगः कर्मसु कौशलं'' कर्मों में कौशल पूर्णता ही योग है। गीता में कर्म को संयास से अधिक श्रेष्ठ माना है।

संयासः कर्म योगश्च निःश्रेयसकरावुर्भो।
तथोस्तु कर्मसंयासात कर्मयोगो विशिष्यतें।।

इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि गीता का मुख्य उपदेश कर्म है। गीता में इस संदर्भ में स्पष्ट रूप से व्याख्यित किया।

''तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मनोऽथिकं।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।''

इन शब्दों में स्पष्ट है कि योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी से ऊँचा है। वहाँ यह भी स्पष्ट है कि योग, तपस्या, ज्ञान या कर्म से भिन्न है। योग कर्म नहीं बल्कि कर्म में कौशल है (पूर्णता)।

कर्म का त्याग संभव नहीं – गीता में स्पष्ट तौर पर बताया है कि समस्त कर्मों का त्याग सम्भव नहीं है।

''न हि कश्चित्क्षणमपि जातुविष्ठत्यकर्म कृत।
कार्यते ह्मवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।''

क्षण भर के लिए भी कोई बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों द्वारा विवश होकर हरेक को कर्म करना पड़ता है।

कर्मयोग की प्राथमिकता पर कर्म कई रूपों में दृष्टिगोचर होता है। श्रीकृष्ण ने तीन शब्दों का प्रयोग किया है – अकर्म, कर्म और विकर्म।

इस संदर्भ में ओशो कहते हैं कि – **कर्म** – कर्म किये बिना जीवन रक्षा या शरीर निर्वाह भी नहीं हो सकता। ''प्रकृति के सत्वरजस्तमोगुण सब प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं। सारा लोक कर्म से बंधा है। गीता कर्म का निषेध नहीं कराती, कर्म में फलासक्ति या कामना का निषेध करती है।''

वासना, कामना, आसक्ति या फलाकांक्षा कर्म का विषदन्त है, जो कर्त्ता को बंधन में बांधता है।

गीता दशर्न के अनुसार कर्म अतिरिक्त मानव जीवन का निर्वाह नहीं कर सकता। मानव न भी चाहे फिर भी मानव कर्म से बंधा हुआ ही है। कर्म से वह मुक्त नहीं हो पाता। इस संदर्भ में ओशो कहते हैं कि – **अकर्म, कर्म और विकर्म –** इन तीनों शब्दों का प्रयोग श्रीकृष्ण ने किया है। श्रीकृष्ण कर्म उसे कहते हैं, जिसमें कर्त्ता का भाव है। जिसमें कर्म करने वाले को यह ख्याल है कि मैं कर रहा हूँ। मैं कर्त्ता हूँ। 'इगो सेंट्रिक' कर्म को वे कर्म कहते हैं। ऐसा कर्म जिसमें कर्त्ता स्थित है। जब वह करने वाला है, तब तक हम जो भी करेंगे वह कर्म है।

अकर्म का अर्थ इससे उल्टा है। ऐसा कर्म जिससे कर्त्ता नहीं है। जिसमें मैं कर रहा हूँ, ऐसा कोई बिन्दु नहीं है। ऐसा कोई केन्द्र नहीं है। जहाँ से यह भाव उठता है कि मैं कर रहा हूँ। अगर मैं कर रहा हूँ, यह खो जाए, तो सभी कर्म अकर्म है। कर्त्ता खो जाए तो सभी कर्म अकर्म है।

विकर्म – विशेष कर्म। कर्म–अकर्म के मध्य विकर्म। श्रीकृष्ण जहाँ न कर्त्ता और न कर्म है। साधारण मनुष्य कर्म में है, संन्यासी अकर्म में है, परमात्मा विकर्म में है। वहाँ न कर्त्ता है, न कोई कर्म। जो विकर्म को समझ लेगा, वह अकर्म में जाएँगा। कर्म हमारी स्थिति है, जैसे हम जी रहे हैं। विकर्म हमारी समझ होगी, अकर्म हमारा होना हो जाएगा। विकर्म की समझ का नाम प्रज्ञा (विज़्डम) है। वह बीच का द्वार है। कर्म से गुजरते वक्त पड़ेगा विकर्म और अकर्म में स्मरण आ जाता है, आपको लाना नहीं पड़ता। जिस स्मरण कि आप लाऐंगे, वह कर्म होगा। जो स्मरण आएँगा, वहीं आपके कर्त्ता के बाहर से आएँगा।

योग तथा कर्मवाद – गीता दर्शन में श्रीकृष्ण कहते हैं कि '''सब कर्म कियें हों, और फिर भी ऐसा होना की कर्म किए ही नहीं हैं, यही योग हैं।'

कर्म के प्रति व्यक्तिगत हित को छोड़ मानवीय कल्याण भाव की प्रकृति भी मानव को उन्नत बनाती है। उसके सांसारिक तथा आध्यात्मिक विकास में सहायता प्रदान करती है।

निष्काम कर्म की व्यवहारिकता – गीता में निष्काम कर्म का सिद्धांत ''जिनकी प्राप्ति सामान्य मनुष्य के लिए अत्यंत कठिन है। प्रायः ऐच्छिक कर्म का एक निश्चित उद्देश्य होता है, जिसे उस कर्म को करने वाला व्यक्ति उससे एक विशेष परिणाम या फल की आशा करता है। फल की आशा ही मनुष्य के लिए ऐच्छिक कर्म की मूल प्रेरणा है, जिसके अभाव में उसके लिए इस प्रकार का कर्म करना संभव प्रतीत नहीं होता।'' कर्म से फलाकांक्षा का भाव ही हट गया तो सांसारिक जगत में कर्म के प्रति लगाव भी हट जाऐगा। इस संदर्भ में ओशो कहते हैं कि ''फलासक्ति से मुक्त होकर कोई कैसे कर्म को उपलब्ध हो सकता है। यदि हम फल से मुक्त हो गए तो कर्म से भी मुक्त हो जाऐंगे। फलासक्ति से मुक्त हो जाने का ही इसलिए है कि कर्म पीछे बचाया गया है। कर्म तो रहेगा, फलासक्ति नहीं रहेगी। यदि कर्म से मुक्त हो जाएँ तो फल से भी मुक्त हो जाएँगे। यदि फल की कामना ही नही ंतो कर्म भी नहीं रहेगा।''

निष्काम कर्मयोग – गीता का कर्मयोग (नैष्कम्यै) कर्म–निषेध नहीं है, अपितु 'निष्काम कर्म' (कामना रहित कर्म, कामना निषेध) है।

''कर्मों के फल से छुट्टी पाये बिना मुक्ति नहीं हो सकती। लेकिन कर्मफल से छुटकारा किस प्रकार मिले। गीता के अनुसार 'ज्ञानमार्ग' के अवलम्बन से कर्मफल से मुक्ति मिल सकती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। 'ज्ञानमार्ग' और 'कर्ममार्ग' को बालक ही भिन्न करते हैं, न कि विद्वान। किसी एक में भी स्थित पुरूष दोनों के फल का लाभ पाता है।'' कर्मफल से छूटने के लिए कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

''अनाश्रितः कर्मफलं कार्य कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी जन निरग्निन्न चाक्रियः।।(6/1)''

''जो कर्मफल से आसक्ति त्याग कर कर्त्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी योगी है। अग्नि को न रखने वाला क्रियाहीन कुछ भी नहीं है। काम्य कर्मों के त्याग को ही विद्वान लोग संन्यास कहते हैं, सब कर्मों के फल को ही मनीषी त्याग बताते हैं।''

कर्म के संदर्भ में गीता दर्शन में फल के प्रति आसक्ति भाव को त्याग देना ही निष्काम कर्म योग का मूल अर्थ है। श्रीकृष्ण कर्म के संदर्भ में फल के साथ व्यक्ति के आसक्ति भाव को इंगित करते है। फल के प्रति आसक्ति तभी होती है, जब कर्त्ता का भाव, अहंकार का भाव होता है। यह अहंकार ही फल के प्रति आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है। यह आसक्ति ही मुख्य रूप से फल से कर्म को जोड़ती है।

गीता की सुप्रसिद्ध उक्ति है – ''तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, कर्म–फल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। अतः तुम कर्मफल की कामना या फलासक्ति मत करो और न ही तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म न करने में हो।''

इस विषय पर ओशो कहते हैं कि ''फलासक्ति से मुक्त होकर, कर्म से मुक्त होकर नहीं, फलासक्ति से तुक्त होकर। कर्म से मुक्त होने को नहीं कहा जा रहा है, कर्म से मुक्त हो जाते हैं, नहीं फलासक्ति से मुक्त हो जाते हैं। निष्काम भाव से, फलासक्ति को त्याग कर कर्म करने की यह शिक्षा ही गीता का मौलिक उपदेश है।'' इस संदर्भ में ओशो कहते हैं – ''फलासक्ति से मुक्त हो जाने ही है इसलिए है कि कर्म पीछे बचाया गया है। कर्म तो रहेगा परन्तु फलासक्ति नहीं रहेगी। फलासक्ति से मुक्त होकर कर्त्ता मोक्ष को या मुक्ति को उपलब्ध हो जाता है।''

अपने वर्ण के अनुसार ही कर्म करना। मानव का कर्त्तव्य माना गया है। वर्णाव्यवस्था के अनुरूप ही कर्म करना स्वधर्म की मुख्य विशेषता माना गया। यही स्वधर्म है।

निष्काम का अर्थ वैयक्तिक कामना से नहीं बल्कि विश्वात्मा (जो कि हमारी आत्मा का ही उच्च पक्ष है) की कामना से कर्म करना। भगवद कर्म का सफल यंत्र बनना है। कर्म का अर्थ अपने–अपने वर्णधर्मानुसार या स्वभाव औंर शक्ति के अनुसार देव, गुरू और पितरों के प्रति अपना कर्त्तव्य करना है।

सर्वधर्म तथा कर्मयोग – सर्वधर्म का कर्मयोग से सीधा सम्बंध है। श्री अरविंद के शब्दों में – ''गीता हमें कर्मों को कामना रहित होकर करना नहीं सीखाती, बल्कि सर्वधर्मों को छोड़कर दैवी–जीवन का अनुसरण करना, एकमात्र परम में शरण लेना सिखाती है और एक बुद्ध, एक रामकृष्ण और एक विवेकानंद का दैवी कर्म, इस उपदेश से पूर्व सामंजस्य में है।''

सर्वधर्म का प्रति एक भावना से प्रेरित होना कामनामुक्त कर्म के प्रति प्रथम कदम बताता है। जब सभी स्वधर्म के अनुसार कर्म करेंगे तथा कामनामुक्त कर्म के मार्ग पर अग्रसर होंगे तो सर्वधर्म स्वभाव का सहज भाव उत्पन्न होगा।

उपसंहार – गीता को निष्काम कर्मयोग कर्म के प्रति कर्त्तव्यपरायणता तथा फलाकांक्षा से मुक्ति का मार्ग बताती है। कर्त्तव्यपरायणता का भाव कर्म में अहंकार को क्षीण कर देगा। कर्त्तव्यपूर्णता का भाव सांसारिक जगत में सफलता देगा। वही मानव जीवन को आध्यात्मिकता के रंग से भी रंग देगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

01. कृष्ण मेरी दृष्टि में, ओशो रजनीश फांउडेशन, पूणे प्रकाशन, 1969.
02. भारतीय दर्शन, डॉ. शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, पूणे प्रकाशन, 1990.
03. नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धांत, डॉ. डी.आर. जाटव, मलिक एंड कम्पनी, जयपुर संस्करण, 2006.
04. भारतीय दर्शन, रूपाली श्रीवास्तव, यूनिवर्सिटी प्रकाशन, जयपुर, 2002.

इन्दौर संभाग के ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में लिंगानुपात का तुलनात्मक अध्ययन

श्रीमती अल्पना सिंह
शोधार्थी
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

जैसा की हम जानते है की लिंगानुपात दो शब्दों से मिल कर बना है। जिसमें से पहला शब्द लिंग है जो की जनसंख्या से सम्बन्धित है। अर्थात लिंग शब्द दो शब्दों को परिभाषित करता है – पहला शब्द – पुरुष, दूसरा स्त्री। इसी तरह लिंगानुपात शब्द का संधि विच्छेद करें तो लिंगानुपात = लिंग+अनुपात हो जाता है। अतः लिंगानुपात की सामान्य परिभाषा दी जाये तो प्रति हजार कुल पुरुषों की संख्या में कुल महिलाओं की संख्या को लिंगानुपात कहा जाता है। किसी भी देश या विश्व के लिंगानुपात का अध्ययन करने के लिए हमें उस देश या विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या का अध्ययन करना चाहिए। किसी भी देश की जनसंख्या में स्त्री–पुरुष अनुपात महत्वपूर्ण होता है। जो जन्म व मृत्युदर को प्रभावित करता है। स्त्री–पुरुषों के अनुपात पर ही देश में स्त्रियों के प्रति पुरुषों की यौन अभिवृध्दि निर्भर करती है, तथा स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कार्य करने की शारीरिक शक्ति कम होती है, इसलिये वे उत्पादन के कार्यों में उतना हाथ नहीं बटाती, जितना वे वस्तुओं के उपभोग में बटाती हैं, जिससे प्रति व्यक्ति आय सामान्यतः कम होती है। स्त्री पुरुष के अनुपात में विषमता से कई सामाजिक समस्यांए उत्पन्न होती हैं। जैसे – वेश्यागमन, बलात्कार, व्यभिचार इत्यादि उत्पन्न हो जाती हैं। जो कि समाज के लिये कलंकित मानी जाती है। जिनसे मनुष्य का नैतिक, सामाजिक और शारीरिक अधःपतन हो जाता है। यही नहीं, यदि स्त्रियों की तुलना में पुरूषों की संख्या अधिक है तो बालविवाह को प्रोत्साहन मिलता है। बालविवाह के कारण पति–पत्नी की आयु में काफी अंतर हो जाता है जिससे वैधव्य की संभावना बढती है।

इस शोध में हमने इन्दौर संभाग के अंतर्गत आने वाले सभी जिलों का अध्ययन किया है, जो इस प्रकार हैं – इन्दौर, धार, खंडवा, बड़वानी, बुरहानपुर, खरगोन, झाबुआ, अलीराजपुर आदि।

लिंगानुपत की प्रवृत्ति : इस तरह जनगणनाओं के आधार पर इन्दौर की जनसंख्या को पुरुष प्रधान पाया गया है और इसका कारण यहाँ महिलाओं की तुलना में पुरुषों की संख्या का ज्यादा होना है। इस तरह इन्दौर संभाग के ग्रामीण क्षेत्रों की विभिन्न जनगणनाओं के आधार पर लिंगानुपात निम्नलिखित है –

तालिका क्रं. – 1

जिलों का नाम	ग्रामीण क्षेत्र (2011)	नगरीय क्षेत्र (2011)
इन्दौर	943	918
धार	977	893
खरगोन	967	943
झाबुआ	995	937
बड़वानी	985	954
अलीराजपुर	1012	988
खंडवा	943	944
बुरहानपुर	952	949

स्त्रोत : censusindia.gov.in

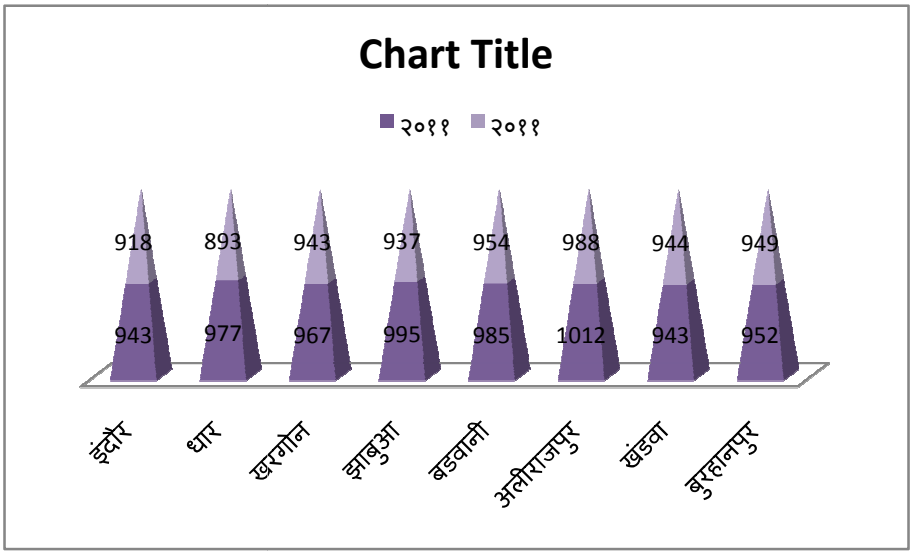

तालिका 1 के अनुसार इन्दौर सभांग के अंतर्गत आने वाले सभी जिलों में पाया गया है की जनगणनानुसार वर्ष 2011 में खंडवा जिले को छोड़कर बाकि सभी जिले अनुसार

लिंगानुपात परवर्ती को देखते हुए यह कह सकते हैं कि आज भी कहीं न कहीं ग्रामीण क्षेत्र नगरीय क्षेत्रों से पिछड़े हैं। इसका मुख्य कारण है की आज भी गाँवों में स्त्रियों की संख्या कम है। इस तरह नगरीय लिंगानुपात ग्रामीण लिंगा–नुपात की तुलना में कम है। इसका मुख्य कारण गावों से नगरों की ओर पुरुष प्रधान प्रवास पाया गया है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

दुनिया की आधी आबादी स्त्रियाँ जो की समाज की जनक, सामाजिक व्यवस्था का आधार, संतुलित समाज व देश की प्रतीक एवं प्रगति के लिए अनिवार्य है, भूतकाल से कई रुढ़ियों एवं अत्याचारों की शिकार बनती आ रही है। नवजात शिशु हत्या, कन्या भ्रूण हत्या, कुपोषण आदि के चलते भारत में लगातार घटते अनुपात, विश्व के विकसित राष्ट्रों की तुलना में लिंग अनुपात दृष्टि से पिछड़ा होना, भारत के विभिन्न राज्यों में लिंगानुपात में असमानता, बालिका लिंग अनुपात का तेजी से गिरना, उत्तर भारत में लिंगानुपात का अत्यंत कम होना आदि। महिला प्रगति, महिला सशक्तिकरण, नारी स्वतंत्रता एवं समानता के युग में एक अत्यंत चिंतनीय पहलू है। 21वीं सदी में भारत चाँद पर कदम रखने का सपना तो साकार कर सकता है लेकिन दशक के बाद ढाई करोड़ युवाओं की जीवन संगिनी के लिए तरसना पड़ सकता है। वास्तव में इतनी गहन व गम्भीर समस्या जनसंख्याविदों और समाजशास्त्रियों के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए चिंतनीय है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

01. जनांकिकी डॉ. वि. कुमार, डॉ शिवनारायण गुप्त
02. www.censusindia.govt.in
03. en.wikipedia.org
04. मिश्र एवं पूरी 2012 भारतीय अर्थव्यवस्था, पेज 133, मुम्बई
05. विसरीया प्रवीण 2006

संविधान में सामाजिक व आर्थिक न्याय

डॉ. सपना चक्रवर्ती
प्राध्यापक – राजनीति विज्ञान
श्री अटल बिहारी वाजपेयी
शा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर (म.प्र.)

भारतीय संविधान, भारत की जनता के द्वारा अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आजादी के लिए एक बहुत लम्बे समय तक चलाए गए स्वतंत्रता संघर्ष के बाद बनकर तैयार हुआ। भारत का स्वंतत्रता संघर्ष जन–जन का स्वतंत्रता संघर्ष था। संविधान का निर्माण और उसका लागू होना इस संघर्ष की सफलता की सर्वोच्च परणिति थी। भारतीय संविधान का निर्माण जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के द्वारा पर्याप्त समय तक विचार–विमर्श के बाद हुआ। इस कारण यह भारतीय जनता की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है। जब भारत में अग्रेजों का शासन था, उस समय भारतीय जनता के साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदि क्षेत्रों में बहुत अधिक अन्याय हुआ था। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन इस अन्याय के विरूद्ध भारतीय जनता की एक जोरदार आवाज थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान ही यह स्पष्ट हो गया था कि आजादी के बाद भारत में एक और आन्दोलन चलाने की आवश्यकता पड़ेगी जो कि देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की स्थापना के लिये होगा। आजादी के बाद इन तीनों ही की स्थापना के लिये बहुत अधिक प्रयास किये गए। इस दिशा में उल्लेखनीय समस्याएँ भी मिली किन्तु इनके वास्तविक लाभ थोड़े से लोगों को ही मिल सके।

देश की जनता का एक बहुत बड़ा भाग आजादी की स्वर्ण जयंती मना लिये जाने के बाद भी इनसे वंचित है। आज देश में स्थिरता, व्यवस्था और शान्ति बनाए रखने के लिये तथा लोकतंत्र की रक्षा के लिये सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना की अत्यधिक आवश्यकता है। राजनैतिक, नैतिक और कानूनी न्यायमुख्यतः सामाजिक और आर्थिक न्याय पर ही निर्भर करते हैं।

भारतीय संविधान भारतीय जनता के लिये सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना का पूर्ण आश्वासन देता है। संविघान में इसके लिये पर्याप्त प्रावधान है। संविधान के महान निर्माता भारत में सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना की आवश्यकता को

भलीभाँति समझते थे। यही कारण है कि संविधान में इसके नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार के उपाय किये गये। संविधान के भाग तीन और चार में मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक सिद्धान्तो के अर्न्तगत विशेष रूप से इस प्रकार के प्रावधान हैं। संविधान की अन्य धाराओं में भी सामाजिक और आर्थिक न्याय से सम्बंधित अनेक प्रावधान हैं किन्तु उनकी जड़ें भी मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक सिद्धांतों में निहित हैं। इनके भली प्रकार क्रियान्वयन से भारत में बहुत हद तक सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना हो सकती है।

सामाजिक और आर्थिक न्याय एक–दूसरे की के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की उपलब्धि संभव नहीं है। सामाजिक न्याय की उपलब्धि आर्थिक न्याय के बिना संभव नहीं है और स्वयं आर्थिक न्याय भी सामाजिक न्याय के बिना प्रायः अर्थहीन सिद्ध होता है। ऐसा देखा गया है कि जिन क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर ऊँचा है तथा आर्थिक क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई है, उन क्षेत्रों में सामाजिक न्याय की उपलब् भी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता और सुगमता होती है। इससे यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि सामाजिक न्याय की उपलब्धि के लिये आर्थिक न्याय की स्थापना परम आवश्यक है।

आर्थिक न्याय, न्याय का वह रूप है जिसके आधार पर आम जनता का न्याय में विश्वास जागृत होता है। आज तक न्याय को अनेक परिभाषाएँ हुई हैं। ये सभी किसी न किसी रूप में आर्थिक न्याय पाकर ही पूर्ण होती है। प्लेटों से लेकर मार्क्स और गांधी तक जितने भी महान विचारकों ने न्याय की विवेचना की है, सभी ने 'समुचित–प्राप्य' अर्थात जो प्राप्त होना चाहिये, उसकी उपलब्धि में ही न्याय को पूर्ण हुआ माना है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक–न्याय में ही न्याय की वास्तविकता और पूर्णता है। आर्थिक न्याय ही न्याय का वह सोपान है जिस पर चढ़कर सामाजिक न्याय, राजनैतिक न्याय और कानूनी न्याय की मंजिल प्राप्त की जा सकती है।

यह कहा जाना उचित होगा कि आजादी के बाद के वर्षों में भारत में आर्थिक क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई है किन्तु यह कहा लाना भी अनुचित नहीं होगा कि इन तमाम प्रयासों और उपलब्धियों के बाद भी भारत में सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना नहीं हो सकी है।

भारत में यदि बहुसंख्यक गरीब, साधनहीन और अशिक्षित जनता को आर्थिक न्याय प्रदान करना है तो अर्थव्यवस्था को एक विशेष दिशा में विशेष प्रकार से गतिशील बनाना

होगा। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान प्रयोग सहित यह सिद्ध करके बताया था कि ग्रामीण भारतीय में एक विशेष प्रकार की व्यवसायिक दक्षता हैं। इसका सदुपयोग करके ही भारत में आर्थिक न्याय की स्थापना की जा सकती है। इसके विपरीत इस तथ्य की उपेक्षा करके भारत में बहुसंख्यक ग्रामीण जनता को कभी भी आर्थिक न्याय प्रदान नहीं किया जा सकता है। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों में, गृह उद्योगों में तथा हाथों की कला द्वारा बहुमूल्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता हैं। किन्तु आधुनिक मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की तुलना में बाजार प्रतिस्पर्द्धा में ग्रामीण वस्तुएं टीक नहीं पाती हैं और धीरे–धीरे चलन से बाहर हो जाती हैं। भारत गावों मे रहता है। ग्रामीण क्षेत्रों में यदि रोजगार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध नहीं होते हैं, तो भारत में आर्थिक न्याय की स्थापना नहीं की जा सकती है।

भारत एक बहुत बड़ी जनसंख्या वाला देश है। इस तथ्य की अनदेखी करके यदि भारतीय अर्थ–व्यवस्था का संचालन किया जाता है, तो यहाँ करोड़ों लोगों को न तो संतोषजनक रोजगार मिल सकता है और न ही उनकी गरीबी दूर हो सकती है। ऐसी स्थिति में आर्थिक न्याय की स्थापना असंभव ही है। अर्थिक न्याय की स्थापना करने की इच्छा रखने वाले राज्य का यह कर्तव्य है कि अपनी विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी जनसंख्या, जमीन और साधनों को ध्यान में रखते हुए उत्पादन की पद्धति और इसकी तकनीकों का इस प्रकार विकास करें जिससे समूची जनसंख्या को रोजगार के संतोषजनक अवसर उपलब्ध हो सकें। राज्य द्वारा ऐसा न करना आर्थिक अन्याय को बढ़ावा देना है। दुर्भाग्यवश वर्तमान भारतीय अर्थव्यवस्था में और सारी महत्वपूर्ण बातों पर तो ध्यान दिया जा रहा है किन्तु इसी तथ्य की अनदेखी की जा रही है। भारत में आर्थिक न्याय की स्थापना की दिशा में प्रगति के लिए इन बातों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

भारत में विशाल आबादी को तभी आर्थिक न्याय मिल सकता है जबकि काम करने लायक हर हाथ को काम मिले। भारतीय संविधान के अनुसार हर व्यक्गित को रोजगार उपलब्ध कराना राज्य का दायित्व है। यदि रोजगार प्राप्त करना व्यक्ति का अधिकार भी बना दिया जाये, तो इससे भारत में आर्थिक न्याय की स्थापना की दिशा में क्रान्तिकारी और आश्चर्यजनक प्रगति हो सकती है।

''काम का अधिकारा'', भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की सूची में शामिल किया जाना चाहिये। वर्तमान में भारत के संसाधन इतने नहीं हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को इसकी योग्यता और रूचि के अनुसार रोजगार उपलब्ध करवाया जा सके तथा न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी दी जा सके। किन्तु इस दिशा में अपनी पूरी क्षमता से और ईमानदारी के साथ समयबद्ध प्रयास करना राज्य का दायित्व है। यह कोई ऐसी चीज नहीं है कि उपेक्षा की जा सके। जिस प्रकार देश की सुरक्षा के विषय पर कोई समझौता नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार देश में आर्थिक न्याय की स्थापना के विषय में भी किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जाना चाहिये, सुरक्षा के विषय में बरती गई थोड़ी सी लापरवाही देश को जितना नुकसान पहुँचा सकती है, उससे कहीं ज्यादा नुकसान आर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में होने वाले अन्याय पहुंचा सकते हैं। ये न केवल राज्य की एकता अखण्डता के लिये खतरा उत्पन्न कर सकते हैं वरन् राज्य की व्यवस्थाओं को छिन्न–भिन्न करके समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों को भी नष्ट कर सकते हैं। देश में चारों और पनपता आतंकवाद इसी प्रकार का खतरा है। राजनीति के अपराधीकरण और अपराध के राजनीतिकरण के लिये भी आर्थिक और सामाजिक अन्याय की भूमि अत्यंत उर्वरा सिद्ध होती है।

जब भारतीय संविधान में काम के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में किये जाने की बात की जाती है तो औचित्य और न्याय भावना के अनुसार तो सभी इसे स्वीकार करते है किन्तु साधनों की कमी और विशाल जनसंख्या को देखते हुए प्रथम दृष्टि में कोई भी विद्वान इसे स्वीकार नहीं कर पाता है। किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को पूरा करने के लिये प्रबल इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है। कार्य के महत्व, उसकी उपयोगिता और उसकी अनिवार्यता को समझे और स्वीकार किए बिना इस प्रकार की इच्छा शक्ति का निर्माण नहीं हो पाता है। यदि भारत में आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना की आवश्यकता, उपयोगिता और अनिवार्यता को व्यापक दृष्टि से देखा, समझा और स्वीकार किया जाये तो निश्चय ही काम के अधिकार को मौलिक अधिकार बनाए जाने के प्रश्न पर आम सहमति प्राप्त की जा सकती है।

यदि भारतीय संविधान में काम के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में शामिल कर लिया जाता है तो इससे भारत में इस लक्ष्य को पूरा करने के लिये सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक आदि सभी क्षेत्रों में एक प्रबल इच्छा शक्ति का निर्माण

होगा। राष्ट्र की सारी शक्ति और सारे साधन प्राथमिकता के आधार पर आर्थिक और सामाजिक न्याय के स्वप्न को साकार करने के लिये लग जाएंगे। देश में राष्ट्रीय भावनाओं का अभिनव रीति से जागरण होगा तथा इन सबके परिणाम स्वरूप एक ऐसे नवीन भारत का निर्माण होगा जो कि वास्तव में हमारे महापुरूषों के सपनों का आदर्श भारत है।

इस प्रकार भारत में विशेष संवैधानिक प्रावधानों से आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। संविधान की समीक्षा करते समय इस तथ्य को अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिये।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. सिविल सर्विसेस क्रानिकल, मार्च 2000, पृ. 11
2. सिविल सर्विसेस क्रानिकल, मार्च 2000, पृ. 12
3. प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई 200/2 116/6
4. NCERT 12 स्टेंडर्ड ''भारत में लोकतंत्र''
5. हमारा संविधान, सुभाष कश्यप, पृ. 56
6. भारत का संविधान एक परिचय, D.D. बसु, पृ. 91
7. युसूफ बनाम बम्बई राज्य AIR 1954 SC 321
8. चित्रलेखा बनाम मैसूर राज्य AIR 1964 SC 1823/1827
9. भारत का संविधान एक परिचय, D.D. बसु, पृ. 95
10. संजीत बनाम मैसूर राज्य AIR 1953 SC 328
11. हमारा संविधान, सुभाष कश्यप, पृ. 57
12. कांस्टीट्शन ऑफ इंडिया, पी. जोशी, पृ. 112
13. भारतीय शासन एवं राजनीति – डॉ. फड़िया
14. नई दुनिया, इन्दौर संस्करण, 17 अगस्त 2000, पृ. 06